॥ श्रीः॥

न श्वेतांशुवदन्धकारदलनाद्‌द्योतिते रोदसी,
नाप्यैरावतवन्निरस्तदितिजत्रासः कृतो वासवः।
नो 'चिन्तामणि' रत्नवत्त्रिभुवने छिन्ना विपद्यार्थिनां,
भूत्वा तस्य हरेस्स्तनः प्रणयिना किं कौस्तुभेनार्जितम्॥

चन्द्रमणि उज्ज्वलकिरण तिमिर-नाशक है गगनमें।
हस्तमणि ... त्रासनाशक दैत्यरणमें॥
हरि-हृदय- ...
सर्व-अर्थ- ...

- पुरुषार्थ प्रतिपादक
- प्रसन्न-गम्भीर पत्रिका

चिन्तामणि

संस्थापक : अनन्त श्रीविभूषित पू. पा. स्वामी श्री अखण्डानन्द जी सरस्वती महाराज

सम्पादक :
ब्र. प्रेमानन्द 'दादा'
विश्वम्भर नाथ द्विवेदी
आनन्दकानन
सी.के. ३६/२०
वाराणसी - १
फोन : २६८३

वार्षिक मूल्य • चार रुपये मात्र
एक प्रति • सवा रुपया मात्र

विदेश में
वार्षिक मूल्य छः शिलिंग

व्यवस्थापक
सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट,
'विपुल' २८/१६
रिजरोड, मलाबार हिल
बम्बई - ६

चिन्तामणि

मई, '६९
वर्ष : ३ अंक : ३

★ विषयक्रम

ENGLISH

ग्राहकोंसे

चिन्तामणि : नवम्बर, फरवरी, मई और अगस्तकी पन्द्रह तारीखको प्रकाशित होती है।

कई-कई बार भली-भाँति जाँच-पड़ताल कर अंक आपकी सेवामें भेजा जाता है।

इधर दूसरे अंकके न मिलनेकी अनेक शिकायतें हमारे पास आयी हैं।

हमारा निवेदन है कि पत्रिका इतनी आकर्षक और लोकप्रिय है कि आपके हाथोंमें पहुँचनेके पूर्व ही वह इतस्ततः हो जाती है।

हमारा विनम्र अनुरोध है कि आप पहलेसे ही अपने यहाँके डाकखानेमें अपने अंकके बारेमें सूचना दे दें। पत्रिका प्रकाशित होनेकी तिथिसे १० दिन बादतक भी यदि अंक आपको न मिले तो पोस्टमास्टरको लिखकर शिकायत दें। उनका उत्तर हमें दें।

हमें विश्वास है इससे चिन्तामणिकी आपकी अपनी प्रति अधिक सुरक्षित होकर आपके पास पहुँचेगी।

—व्यवस्थापक

मई, '६९
वर्ष : ३] [अङ्क : २

चिन्तामणि

स्वस्त्ययन

ॐ अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्ष-
मदितिर्माता स पिता स पुत्रः ।
विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना
अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ।।
[ऋ० सं० १.८९.१०]

अदिति ही द्युलोक है। अदिति ही अन्तरिक्ष है। अदिति ही माता है। वही पिता और पुत्र है। अदिति ही विश्वेदेवा है। अदिति ही पञ्चजन है। अदिति ही जात है और अदिति ही जनिष्यमाण है।

निरुक्तके अनुसार अदिति शब्द 'दीङ् क्षये' धातुसे क्तिन् प्रत्यय और छान्दस ह्रस्व करके नञ्समाससे बना है। इसका अर्थ है जो कभी दीन न हो, उपक्षीण न हो, सम्पूर्ण सृष्टिका कारण होनेपर भी और उसको धारण करनेपर भी खण्डित न हो। इसीसे अदिति शब्दका अर्थ अखण्डनीया, अदीना होता है। अदिति शब्दका अर्थ अग्नि, पृथिवी और देवमाता भी होता है। प्रस्तुत मन्त्रमें अदितिकी विभूतियोंका वर्णन है। गौणी वृत्तिसे भी कार्यको कारण कहा गया है। कारण कार्यसे विलक्षण होता है, किन्तु कार्य कारणसे विलक्षण नहीं होता। अतएव कहा गया है कि कारणरूपा अदितिसे कार्य-जगत् भिन्न नहीं है, सब अदितिका ही विलास है, सम्पूर्ण कार्य-कारणात्मक जगत् अदिति ही है। अग्नि होनेके कारण अधर्षणीय, पृथिवी होनेके कारण सर्वधारक, अन्तरिक्ष आदि होनेके कारण सर्वव्यापी और पञ्चजन एवं जात व जनिष्यमाण होनेके कारण सर्वरूपा है। जब

धनान्नदान-सूक्त

[ऋ० म० १० सूक्त ११७]

न वा उ देवाः क्षुधमिद्वधं ददुरुताशितमुप गच्छन्ति मृत्यवः ।
उतो रयिः पृणतो नोप दस्यत्युतापृणन् मर्डितारं न विन्दते ॥ १ ॥

देवताओंने मनुष्योंके लिए केवल मृत्युके कारणके रूपमें ही क्षुधा नहीं दी है, प्रत्युत भलीभाँति भोजन करनेवालोंके पास भी नानारूप धारण करके मृत्यु जाती है । यह निश्चित है कि दान करनेसे धनका क्षय नहीं होता । यह बात अवश्य है कि जो किसीको कुछ नहीं देता उसको इस लोक या परलोकमें कोई सुख देनेवाला नहीं मिलता ।

टिप्पणी : व्यंकटनाथने कहा है कि जो लोग यह सोचकर दान नहीं करते कि हम भूखे मर जायँगे; उनका वैसा सोचना मूर्खतापूर्ण है। सायणाचार्यका कहना है कि इस मन्त्रमें व्यतिरेकसे दानकी

इस शब्दका प्रयोग प्रधान एवं प्रकृतिके अर्थमें किया जाता है तब यह परिणामिनी होकर सर्व है और जब इसका प्रयोग चित् सत्ताके अर्थमें होता है तब यही सर्वविवर्तिनी ब्रह्मचितिका बोधक हो जाती है ।

द्यु: शब्द द्युलोक अर्थात् सर्वविध सुखका वाचक है, अन्तरिक्ष विस्तारका, माता-पिता-पुत्र कार्यकारणके अभेदका। विश्वेदेवा कहनेका अभिप्राय यह है कि सब देवता, इन्द्रियाँ और मन अदितिरूप ही हैं, वह देवमाता होनेसे इन्द्रिय जननी ही है। पञ्चजनाः का अर्थ है पाँचों विषय—पञ्चभूत। चारों वर्ण एवं वर्णवाच्य। अथवा गन्धर्व, पितर, देवता, असुर एवं राक्षस। जात और जनित्वसे भूत और भविष्यका ग्रहण है। इसका अर्थ है सब कुछ अदिति ही है।

प्रशंसा की गयी है। इसका अभिप्राय है कि क्षुधा मृत्यु है, उसको दूर करनेवाला जीवनदाता है। जो बिना दान किये ही भोग करता है, मृत्यु तो उसकी भी होती है। भूखे और भोगीकी मृत्यु समान है। कहावत है कि भूखसे उतने लोग नहीं मरते जितने कि भोगकी अधिकतासे। अदाताको कहीं भी सुख नहीं मिलता। इसका अभिप्राय यह है कि न देनेसे भाई-बन्धु सुख नहीं देते और यज्ञादि नहीं करनेसे देवता सुख नहीं देते।

य आध्राय चकमानाय पित्वोऽन्नवान्त्सन्रफितायोपजग्मुषे।
स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतो चित्स मर्डितारं न विन्दते ॥ २ ॥

जो कृपण मनुष्य दारिद्रय-दुःखसे पीड़ित अपने सम्मुख समागत इच्छुक एवं निराधार दुर्बलको अन्न नहीं देता और अपने अन्तः-करणको कठोर बनाकर उसे क्लेश देता है, केवल क्लेश ही नहीं देता उसके सामने ही उसे दिये बिना ही उपभोग करता है, उसको भी लोक-परलोकमें सुख देनेवाला कोई नहीं मिलता।

स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय।
अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम् ॥ ३ ॥

वस्तुतः भोक्ता तो वही है जो दाता है (खिलानेमें जो आनन्द है वह खानेमें नहीं)। जो दरिद्रतासे निर्बल एवं कृश हो गया है—अपने घरमें अतिथि हुआ है, अन्न माँगता है या चाहता है उसको देना ही सर्वोपरि भोग है। देवताओंके द्वारा अनुगृहीत यज्ञसे जिस फलकी प्राप्ति होती है, इस अन्नदानसे भी उसी फलकी प्राप्ति होती है। उसके केवल मित्र ही मित्र नहीं होते, अपितु शत्रुओंकी सेना भी उसके लिए मित्रवत् हो जाती है।

न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वः।
अपास्मात्प्रेयान्न तदोको अस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत् ॥ ४ ॥

जो कृपण अपने साथी, सेवक, अधीन एवं मित्रोंको अन्न नहीं देता वह न सखा है, न सुहृद्। वह नाम लेने योग्य सहृदय भी नहीं है। ऐसे अनुदार कृपणको छोड़कर यदि कोई चला जाय तो उस कृपणका निवासस्थान निवासयोग्य नहीं रहेगा। भवन, सदन या गृह तो वह है जो मित्रोंसे भरा रहे। जो लोग छोड़कर चले जायँगे वे उदार दाताकी शरण लेंगे और उसीसे प्रेम करेंगे।

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् द्राघीयांसमनु पश्येत पन्थाम् ।
ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रान्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः ॥ ५ ॥

धनी पुरुषका यह परम कर्तव्य है कि वह दरिद्र-दुखी याचकको अवश्य धन-दान करे। जो दान करता है वह दीर्घतम पुण्यमार्गको जान लेता है और उसका पार पा लेता है। संसारके ये धन अपने आश्रयको बदलते रहते हैं, अर्थात् एक स्थानपर नहीं टिकते। जैसे रथके पहिये ऊपर-नीचे आवर्तित-प्रत्यावर्तित होते रहते हैं वैसे ही धन एक दूसरेके पास आते-जाते रहते हैं, इसलिए दान अवश्य करना चाहिए।

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य ।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी ॥ ६ ॥

जिसका मन दानमें नहीं लगता उसका अन्न-भोजन व्यर्थ है। वह भोजनका अधिकारी भी नहीं है। मैं यह सत्य-सत्य यथार्थ बोलता हूँ कि अदाता-भोक्ताके लिए वह अन्न केवल व्यर्थ ही नहीं है; बल्कि मृत्युरूप भी है। जो पुरुष ज्ञानदाता, देवता, सखा, अभ्यागत-अतिथि और मित्रोंका पोषण नहीं करता वह निरर्थक ही मर गया; उसका जीवन निष्प्रयोजन व्यतीत हुआ। जो अकेला, असाक्षिक अन्नका भोजन करता है; वह केवल पापी ही होता है। वह लोक-परलोकसे वञ्चित हो जाता है; उसके केवल पाप ही शेष रहते हैं। इसका अभिप्राय है कि दान अवश्य करना चाहिए।

कृषन्नित्फाल आशितं कृणोति यन्नध्वानमप वृङ्क्ते चरित्रैः ।
वदन् ब्रह्मावदतो वनीयान् पृणन्नापिरपृणन्तमभि ष्यात् ॥ ७ ॥

हल खेतकी जुताईमें लगे रहनेपर ही किसानको भोजन देता है, घरमें रखे रहनेपर नहीं। अपने पाँवसे चलते रहनेपर ही मार्ग कटता है और धनकी प्राप्ति होती है, घरमें बैठे रहनेपर नहीं। शास्त्रका अभिप्राय न बतानेवालेकी अपेक्षा बतानेवाला विद्वान् श्रेष्ठ एवं प्रियकारी होता है। न देनेवाला किसीका मित्र नहीं होता। दान करनेवाला उससे आगे बढ़कर सबका मित्र हो जाता है।

एकपाद्भूयो द्विपदो वि चक्रमे द्विपात्त्रिपादमभ्येति पश्चात् ।
चतुष्पादेति द्विपदामभिस्वरे संपश्यन् पङ्क्तीरुपतिष्ठमानः ॥ ८ ॥

एक पादवाला सूर्य दो पादवाले मनुष्योंको पीछे छोड़कर आगे

बढ़ जाता है। दो पादवाला युवा पुरुष यष्टिके सहारे चलनेवाले वृद्धके पीछेसे निकलकर आगे बढ़ जाता है। झुण्ड-झुण्ड (पाँच-पाँचकी पङ्क्ति के रूपमें) चलनेवाली भेड़ोंका संरक्षक चतुष्पाद कुत्ता भी दो पादवाले ग्वालेके बुलानेपर दौड़कर आ जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि चरणोंकी संख्यापर मनुष्यका महत्त्व नहीं है। अपने धनवान् होनेका अभिमान किये बिना धनका दान करना चाहिए।

टिप्पणी : इस मन्त्रकी व्याख्यामें सायणाचार्यने पाद शब्दका अर्थ भाग किया है। इसका अभिप्राय यह है कि एक पाद धनवाला भी परिश्रम करके दो पादवाले से बढ़ जाता है अर्थात् गरीब भी धनी हो जाता है और कभी धनी भी गरीब हो जाता है। इसलिए धनका अभिमान करना व्यर्थ है और दान देना श्रेष्ठ है।

व्यंकटनाथने वायुके अर्थमें प्रयोग माना है और श्लोक-तात्पर्य वही माना है।

निरुक्तमें एकपाद शब्दकी विवृतिमें कहा गया है कि ब्रह्मके एक-एक पाद हैं—अग्नि, वायु, सूर्य और दिशाएँ। इसलिए एकपाद पदका अर्थ सूर्य और वायु आदि हो सकता है। जो एकपादसे 'ज्योतिरात्मना' रक्षा करे अथवा एकपादसे उदकपान करे अथवा एकपादसे गमन करे उसको एकपाद कहते हैं। निरुक्तमें निगम है कि सूर्य जलसे निकलनेके समय अपने एकपादको वहीं रहने देता है। यदि वह वहाँसे अपना पाद उठा ले तो काल-विभाग और वैदिक अभ्युदयनीय कर्मका लोप हो जानेके कारण जगत्में मृत्यु और अमृत्यु दोनों ही न रहें :

> एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन्।
> स चेत् तमुद्धरेदङ्ग न मृत्युर्नामृतं भवेत्॥

समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः संमातरा चिन्न समं दुहाते।
यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि ज्ञाती चित्सन्तौ न समं पृणीतः॥ ९॥

दोनों हाथ समान होनेपर भी समानरूपसे कार्यमें संलग्न नहीं होते। बछड़ेवाली गौएँ दुधारू होनेपर भी समान दूध नहीं देतीं। यमज—जुड़वाँ जन्मे हुए भाई भी समान-पराक्रमी नहीं होते। इसी प्रकार एक कुलमें समानरूपसे उत्पन्न भाई-भाई भी समान दान नहीं करते। इसका अभिप्राय यह है कि आप दानका काम भाईपर न छोड़कर स्वयं करें।

एक संस्मरण

देहाभिमान उन्नतिका रोड़ा

एक थे चतुर्वेदीजी। वे अपनी वृद्धावस्थामें गङ्गातटपर निवास करते थे। उन्होंने अपनी न्यायोपार्जित सम्पत्तिसे साधुओंका निवास-स्थान बनवाया था और एक क्षेत्र भी चलवाया था। स्वयं कम-से-कम वस्त्र पहनते। अपने हाथसे बाटी-दाल बनाकर खा लेते। सन्ध्या-वन्दन, गायत्री-जप करते। तितिक्षा और तपस्यासे युक्त एकाकी जीवन व्यतीत करते। उनके सदाचरणमें तो किसीको किञ्चित् शङ्का नहीं थी। यह सब होनेपर भी उनमें सच्चिदानन्दकी अभिव्यक्ति, समाधि, ज्ञान अथवा भक्तिका लेशमात्र भी नहीं था।

एक दिन हम लोगोंने श्री उड़ियाबाबाजी महाराजसे प्रश्न किया कि इनके जीवनमें ऐसी क्या कमी है कि इनमें योगकी अन्तर्मुखता, ज्ञानकी मस्ती अथवा भक्तिका रसोल्लास देखनेमें नहीं आता ?

श्री उड़ियाबाबाजी महाराजने कहा : बेटा ! इनको यह अभिमान है कि मैं अपनी कमाईका खाता हूँ और ये भिखमंगे साधु परायी कमाईपर अपना जीवन व्यतीत करते हैं। साधुओंके प्रति नीच दृष्टि और अपने प्रति उच्च दृष्टि होनेके कारण ही इनकी अस्मिता, देहाभिमान और रूक्षता इनके अन्दर जड़ जमाकर बैठ गयी है। देहाभिमान मिटाये विना किसी प्रकार भी आध्यात्मिक उन्नति नहीं हो सकती।

—पू० श्री०

श्री हिताद्वैत : एक विवेचन

अनन्तश्री करपात्रीजी महाराज

(२)

रसिक महानुभाव राधा-माधवकी इस लीलाका बहुत प्रकारसे वर्णन करते हैं। युगलका अनुराग एक होनेपर भी रङ्गकी अनेकतासे अनेक-सा प्रकाशित होता है जैसे। राग-रागिनी एक-दूसरेसे अलग होकर नहीं रह सकते, वैसे ही राधा-माधवका भी परस्पर अविना-भाव है। उनके अंग-अंग प्रेम-रंगसे रँगे हुए होते हैं, इसलिए उनका परस्पर आलिङ्गन भी विचित्र रस-पाकके समान परमास्वादनके योग्य है। उनके आश्लेषका सौभाग्य भी रसिकजनोंके लिए वन्दनीय है। सर्वाङ्गपूर्ण निरतिशय एवं असीम प्रेम तत्त्व ही माधव-तत्त्व है। वह केवल प्रेमका विषय ही नहीं, अपितु प्रेमका आश्रय भी है, अर्थात् प्रियतम ही नहीं, प्रेमी भी है। यही कारण है कि वह सर्वदा ही प्रेमका प्यासा रहता है। इसीसे ज्यों-ज्यों प्रेमकी प्यास बढ़ती है, त्यों-त्यों प्रेमकी पराधीनता और विवशता भी बढ़ती है। प्रेमका स्पर्श प्रेमा-धीनताकी वृद्धिका हेतु है। इससे सारे बन्धन शिथिल हो जाते हैं। भगवान् भी प्रेम-राज्यमें प्रवेश करके भक्तके समान प्रेमोन्मत्त हो जाते हैं। सबकी ओरसे उनकी वृत्ति सिमट आती है। वे विलक्षण हो जाते हैं। इसी प्रेमसे विवश होकर वे मधुर-रस-सार-सिन्धु-सर्वस्व अशेष-बाधा-विनिर्मुक्त अगाध राधाका आश्रय लेकर सृष्टि-स्थितिकी प्रक्रियाको भी भूल जाते हैं। अपने परम भक्त नारदादिपर भी दृष्टि नहीं डालते हैं और श्री दामा आदि मित्रोंसे भी नहीं मिलते हैं। और तो क्या, अपने माता-पिता नन्द-यशोदाका स्नेह-संवर्धन भी नहीं करते, प्रेम-रसैकसीमा वृषभानु-किशोरी श्री राधारानीको ही जानते-मानते हैं और रात्रिंदिव कुञ्जगलीमें मँडराते रहते हैं (देखिये, श्रीराधा-सुधानिधि : २३५)। श्रीमद्भागवतमें स्वयं श्रीमुखसे कहा गया है कि मेरे भक्त मेरे अतिरिक्त और किसीको नहीं जानते और मैं भी उनसे अतिरिक्त और कुछ नहीं जानता।

यहाँतक यह बात कही गयी कि जैसे जीव प्रेम-रसाविष्ट होनेपर देह एवं इन्द्रियोंका स्वामित्व, अल्पज्ञता एवं अल्प-शक्तिमत्ताको भूल जाता है, इसी प्रकार प्रेमाविष्ट भगवान् भी अपनी अनन्त-कोटि-ब्रह्माण्डनायकता, सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ताको भूल जाते हैं। यही कारण है कि वे राधाको ही जानते हैं और किसीको नहीं जानते। भक्त-पराधीन भगवान् भगवत्ताको भूलकर भक्तोंका ही स्मरण करते हैं। परमोज्ज्वल-विशुद्ध-प्रेमरसभावापन्न माधवकी भगवत्ता भी मन और वाणीसे निर्वचन करने योग्य नहीं है। वे अपनी निरतिशय ब्रह्मरूपिणी बृहत्ताका भी विस्मरण करके श्री राधारानीके नयनोंका अञ्जन होना चाहते हैं। जिनकी प्रतिबिम्बित सौन्दर्य-कणिकाका आस्वादन करके कोटि-कोटि काम भी मोह-मुग्ध हो जाते हैं, वे ही मन्मथ-मन्मथ साक्षात् मुकुन्द कमनीय-कामिनी-कदम्ब-कोटि-संकुलित होनेपर भी सुकुमारी वृषभानुकुमारीकी बिन्दुमात्र सौन्दर्य-सुधाके लिए दीन-दीन एवं अधीर हो जाते हैं। उनके लोचन-युगल प्राणेश्वरीके मुखारविन्दके मिलिन्द बन जाते हैं, अन्यत्र कहीं रमण नहीं करते। पलकोंके सम्पुटमें बन्दी होनेपर भी अत्यन्त आकुल और व्याकुल हो जाते हैं। वे उनके कानोंमें कुवलय, नेत्रोंमें अञ्जन और वक्षःस्थलपर मृग-मद हो जानेपर भी बेचैन ही रहते हैं। वे अपनी प्राणप्यारीके नाभि-सरोवरका मीन हो जाते हैं। परस्पर श्रीअङ्गकी एकता हो जानेपर भी पुनःपुनः वैसा ही चाहते हैं। लव-निमेषका अन्तर भी कोटि-कल्पके सदृश हो जाता है। व्रजवाणीके सिद्ध कवि, रसिक-शिरोमणि श्री हितहरिवंशजीने कहा है :

कहा कहौं इन नयननि की बात !
ये अति प्रियावदन-अम्बुज-रस अटके अनत न जात ॥
जब जब रुकत पलक संपुट लट अति आतुर अकुलात।
लम्पट लव निमेष अन्तर ते अलप कलप सतसात ॥
श्रुति पर कञ्ज, दृगञ्जन, कुच बिच मृगमद ह्वै न समात।
(जयश्री) 'हित हरिवंश' नाभिसर जलचर जाँचत साँवल गात ॥

यद्यपि प्यारे प्यारीके मनसे अपना मन एक करके उनके अङ्गोंसे अपने अङ्गोंको भी एक करना चाहते हैं, तथापि मनमें यह द्विविधा बनी है कि हाय-हाय ! शरीरके एक हो जानेपर मुझ दर्शनके प्यासेको प्यारीजीका दर्शन कैसे हो सकेगा ! श्यामसुन्दर एकमात्र

प्रियाजीपर ही आसक्त हैं। प्रेयसीके नेत्रोंसे नेत्र मिलना ही उनका जीवन है। शरीर, नेत्र, मन और आत्माका सर्वाङ्गीण संश्लेष ही जीवनका अभिलाष है। माधव दीनभावको प्राप्त होकर प्यारीजीका भ्रूक्षेप भी सहन नहीं कर सकते और उनसे अनुनय-विनय करके अनुग्रहकी प्रार्थना करते हैं। जब शरीरका गाढ़ालिङ्गन होता है, तब प्रेम-विह्वलताके कारण नेत्र-विरह हो जाता है और नेत्रालिङ्गन होनेपर शरीर विरह-तप्त हो जाता है। श्री राधारानीका अङ्ग-अङ्ग आश्चर्यमय, प्रेममय एवं सौन्दर्य-सुधासार-सर्वस्व है। श्रीकृष्णके नेत्र उनका आस्वादन करके वेदामके गुलाम हो जाते हैं। वे विह्वल हो जाते हैं और मन छवि-सिन्धुमें मग्न हो जाता है। सर्वेश्वरके लिए भी उनको लौटाना अशक्य हो जाता है। सारी चतुरता और सर्वज्ञता कुण्ठित हो जाती है। परस्पर एक-दूसरेके प्रति आत्मसमर्पण करके वशीभूत हो जाना ही निस्तारका बीज है। प्रेमकी प्याससे व्याकुल, अधीर, दीन-दीन, प्रेमाश्रय राधामाधवकी परस्पर पराधीनता ही फल है। परस्पर एक-दूसरेको आत्म-जीवनके रूपमें अनुभव करते हैं। भगवान् भक्त-भक्त हो जाते हैं। भगवान्‌ने भागवतमें ठीक ही कहा है कि 'मैं भक्त-पराधीन हूँ।'

प्रेम-लक्षणा भक्तिमें श्रवण-कीर्तनादि भी प्रेममय ही होते हैं। श्रीकृष्ण प्यारीजीके प्रेम-भक्त हो जाते हैं। उस समय श्रीकृष्णका शरीर प्रियाजीके चरण-पंकजका निवास बन जाता है। इसीसे तो वे यह प्रार्थना करने लगते हैं कि देहि पदपल्लवमुदारम्। स्मरगरल-खण्डनं मम शिरसि मण्डनम्...इत्यादि (गीतगोविन्द)। श्रीकृष्ण राधारानीसे प्रार्थना करते हैं: 'जहाँ-जहाँ तुम्हारे चरण-कमल पड़े, वहाँ-वहाँ मेरा मन छत्र बनकर छाया करता है। मेरी अनेक मूर्तियाँ चाँवर-व्यजन आदिके रूपमें उनकी आराधना करती हैं। ताम्बूल-माल्य अर्पण करती हैं, आरती उतारती हैं, तुम्हारी रुचिका अनुसरण करके तुम्हारे प्रसादकी प्राप्तिके लिए तुम्हारी आराधना करती हैं। इसलिए प्रिये! देहि पदपल्लवम्।'

प्रियतम माधव प्रेयसी श्री राधाके नाम-माहात्म्यका श्रवण और गान करते हैं। जैसा कि कहा गया है—प्रेमसे 'राधा-राधा' सुनते हैं, 'राधा-राधा' जपते हैं, आनन्दसे 'राधा-राधा' गाते हैं। उन्मत्त होकर 'राधा-राधा' उच्चारण करते हैं और गोपी-जनोंके

बीचमें साश्रुनयन होकर कहते हैं—'वह अमृतमय राधा नाम ही मेरा जीवन है।' वे श्रीराधाके चरणोंमें महावरसे विचित्र चित्रोंकी रचना करते हैं। कस्तूरीका तिलक लगाकर रंग-बिरंगे पुष्पोंकी माला पहनाते हैं। चोटी बनाते हैं, भूषणोंसे आभूषित करते हैं, कपूर-बीड़ी अर्पण करते हैं, दर्पण दिखाते हैं और वह अनूप रूप-माधुरी निहार-निहारकर अपने आपको निछावर करते हैं। पहले जिसे कोई उपासक छू नहीं सकता था, वही यहाँ उपासक हैं। उनकी प्यारी वैसी दुर्लभ और दुर्गम हैं।

प्रीतिका यह स्वभाव ही है कि प्रियतम और उसके सम्बन्धी लोकोत्तर प्रिय प्रतीत होते हैं। लौकिक प्रेममें विरहके समय प्रेम समुल्लसित होता है। परन्तु यहाँ तो संयोग-दशामें भी वैसा ही उल्लसित होता है। जहाँ-जहाँ किशोरीजी पाद-विन्यास करती हैं, वह-वह स्थान देखकर श्रीकृष्ण प्रेम-विह्वल साश्रुनेत्र हो जाते हैं और चाहने लगते हैं कि मेरे प्राण ही प्यारीजीके पादारविन्दविन्यासके स्थल बन जायँ। प्यारीजी जिन-जिन वन्य-पुष्पों और वनपंक्तियोंको सस्नेह देखती हैं, उनको प्रियाजीके स्नेहामृतसे सिक्त मानकर प्यारे भी उनसे अनुराग करते हैं। अपना प्रिय जिधर रहता है उधरसे आता हुआ खर एवं उष्ण वायु भी प्रिय लगता है। ऐसी अवस्थामें प्राणेश्वरी श्रीराधाके चञ्चल वसनाञ्चलके स्पर्शसे थिरकते हुए धन्यातिधन्य पवनके स्पर्शसे यदि श्रीकृष्ण अपने आपको कृतार्थ मानें तो क्या आश्चर्य है! इसीसे राधारानीकी कृपा-पात्र सहचरियोंकी सेवा करके भी उन्हें अत्यन्त आनन्द होता है। वह कितना अलौकिक दास्य होगा, जिसके लिए परमेश्वर भी लालायित रहता है! सहचरियोंके वस्त्रालङ्कार भी लालजीको प्यारे लगते हैं। उन्हींसे वे सहचरी वेष बनाकर पुष्पोंके पंखेसे प्रियाजीको आनन्दित करते हैं। सहचरी-वेष धारण करनेसे भी माधवका सौन्दर्य बढ़ता है। श्री राधारानी उनकी यह विचित्र वेष-रचना देखकर और भी सँवारती हैं तथा अपने विशिष्ट भूषणोंसे सजाकर उनकी शोभा बढ़ाती हैं। इसीसे कोई-कोई रसिक श्री राधारानीको ही अपना इष्टदेवता मानते हैं और श्रीकृष्ण-चन्द्रको उनके चरणोंका अनुरागी होनेके कारण, अपना अनुराग देते हैं। इस प्रकार उनकी राधा-माधव-युगलोपासना भी राधाकी प्रधानतासे ही है। उनकी घोषणा है :

रहहु कोउ काहुहिं मनहि दिये।
मेरे प्राननाथ श्रीराधा सपथ करौं तृण छिये॥

कोई-कोई रसिक श्रुति-कथा, कैवल्य, परमेश्वर-भक्तिकी भी उपेक्षा करके राधिकाके पदरसमें अपनेको निमग्न कर देते हैं (देखिये श्रीराधा-सुधानिधि, श्लोक ८३)। रसखानको तो वेद-पुराणमें कहीं भी ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं हुई। उन्होंने देखा कि वह कुञ्जकुटीरमें श्री राधारानीके पाँव पलोट रहा है। कोई-कोई रसिक तो श्री राधारानीको श्रीकृष्णका शिक्षा-गुरु भी मानते हैं: पियको नाचन सिखवत प्यारी अथवा कुंजबिहारी नाचत नीके लाड़ली नचावत नीके इत्यादि।

श्री राधारानी क्या हैं? रसामृत-समुद्रकी पुञ्जीभूत-सर्वस्व, प्रेमानन्दकी घनीभूत आकृति, सम्पूर्ण वेदोंकी अविषय। वह प्रेमोल्लासकी परम अवधि हैं। रसके परम चमत्कारकी वैचित्र्यभूमि, रूपलावण्य-सार-सिन्धु-माधुर्यसीमा, रतिकला-माधुर्यास्पद, सहजानन्दवर्षिणी, वृन्दाबन-चन्द्रचन्द्रिका, नित्य-नवीन-केलिसिन्धु हैं वे (देखिये राधा-सुधानिधि, श्लोक १३५ एवं २५)।

जैसे व्रजयुवतियोंका रूपगर्व श्यामघनके सौन्दर्यका दर्शन करनेसे भाग जाता है, वैसे ही श्री राधारानीका रूपसौन्दर्य देखकर श्रीकृष्णका रूपगर्व भी भाग जाता है। जैसे श्यामसुन्दरके श्याम रंगसे व्रज-सीमन्तिनियोंके मन रँगे हुए हैं, वैसे ही श्रीराधाकी जगमगाती हुई गौर कान्तिसे श्यामसुन्दरके मनका कण-कण अनुरंजित है। गोपियोंके मनका रंग श्याम और गौर दोनोंसे आक्रान्त है। जैसे कसौटीपर कसे हुए स्वर्णकी रेखासे उसकी परीक्षा होती है, वैसे ही सुन्दरके हृदयमें रूपकी रेखा खिच जानेपर रूपकी परीक्षा होती है। जैसा कि कहा है:

राधेहि मिलेहु प्रतीति न आवत!
जदपि नाथ विधुबदन विलोकति दरसन को सुख पावति॥
भरि भरि लोचन रूप परम निधि उरमें आनि दुरावति।
विरह विकल मति दृष्टि दुहूँ दिसि रुचि सरधा ज्यों पावति॥
चितवति चकित दहति चित अन्तर नैन निमेष न लावति।
सपनो आहि कि सत्य ईस विधि बुद्धि वितर्क बनावति॥

श्री राधारानी अपने प्राण-प्यारे प्रियतमके मिलनमें भी

मिलनका विश्वास नहीं कर पातीं। प्राणप्रेष्ठके मुखचन्द्रका दर्शन होनेपर भी, अतृप्त हृदयसे लोकोत्तर सुखका अनुभव होते रहनेपर भी उन्हें विश्वास नहीं हो पाता; क्योंकि प्यास तो बुझती ही नहीं। अतः इस परम-रूपनिधिको लोचनकी प्यालीसे भर-भरकर उर:स्थलीमें सुरक्षित रखती हैं।

सारस-दम्पतीकी विरहासहिष्णुता और आत्मोत्सर्ग अत्यन्त प्रशस्त है। चक्रवाक-युगल विरहजनित असह्य वेदनाको सहते रहते हैं—यह भी रसिकोंके लिए स्पृहणीय है। विषम विषसे युक्त, खौलते हुए तेलके कड़ाहेमें डाल देनेपर सभी क्षणमें मर जाते हैं, परन्तु उससे भी तीक्ष्ण विरहाग्निमें पड़ जानेपर भी यदि किसीका जीवन लम्बे समयतक बचा रहे तो उसका जीवन भी परम त्यागमय ही माना

निष्ठाकी परीक्षा

मैं उत्तर काशीमें रह रहा था। एक दिन एकाएक गंगाजीमें बाढ़ आ गयी। आश्रम डूबने लगा। कुछ महात्मा फावड़ा लेकर मिट्टी-पत्थरसे बाँध बनाने लगे। एक महात्मा ध्यानमें बैठ गये। दूसरे महात्मा प्रार्थना करने लगे। तीसरे महात्मा प्रसन्न हो-होकर बार-बार कहने लगे : 'मैं तो गंगामाँकी गोदमें बह जाऊँगा।' वस्तुतः दुःखके समय ही निष्ठाकी परीक्षा होती है। अपनी निष्ठासे हीदुःख दूर हो जाय तो पक्की। तीसरे महात्मा ज्ञाननिष्ठ थे।

—स्वामी श्री शरणानन्दजी

जायगा। जलवियोगी मीनके लिए मृत्यु ही सुखकारी है। यदि उसका वह दुःखमय जीवन भी बचा रहे तो उसे लोकोत्तर तप ही कहेंगे। दीप-शिखाके प्रति आसक्त पतंग क्षण भरमें ही जलकर भस्म हो जाते हैं। यदि वे भी दीप-शिखाको देख-देखकर तृष्णा-व्याकुल हो रहे हों और मरणाधिक वेदनाका अनुभव करते हुए भी जीवित रहें तो यह भी उनका तप ही होगा। बिना विरहके उत्सुकताकी पराकाष्ठा नहीं होती। औत्सुक्यातिशयके बिना प्रेमका पूर्ण परिपाक नहीं होता। सम्भोग, संयोग शृङ्गारके बिना चर्वणा—रसास्वादन नहीं होता। इस दिव्य दम्पतीके प्रेममें यह अनिर्वचनीय आश्चर्य है कि सम्पूर्ण रूपसे सर्वांगीण संश्लेष प्राप्त होते रहनेपर भी अतिशय उत्कण्ठा और विह्वलता बनी रहती है और विशेष प्रकारकी अतृप्ति और

लोकोत्तर आर्ति भी। मिलन और दर्शनमें भी मिलन और दर्शनके लिए अशान्ति बनी रहती है और परस्पर एक दूसरेके प्राणोंमें प्रवेश कर जाना चाहते हैं। जैसा कि कहा है—युगलका दिव्य विहार नित्य एवं दिव्य है। वह मधुरसे मधुर है। अनुपमसे भी अनुपम है। रसोंका भी श्रेष्ठतम रस है। दम्पतीका यह नित्य प्रिय विलास सम्पूर्ण सुखोंका सार है। प्रेमोंका सर्वोत्तम प्रेम है। अतर्क्य और अगोचर है। जहाँ विभ्रमजन्य प्रेम, वैचित्त्य-अवस्थाकी वियोग-कल्पना भी भयानक प्रतीत होती है, वहाँ वियोगकी तो चर्चा ही क्या है !* दिव्य दम्पती राधा-माधवका प्रेम भी दिव्य ही है। वह सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म, महान्से भी महान्, सुन्दरसे भी सुन्दर, और महासिन्धुसे भी अगाध गम्भीर है। वह स्निग्धसे अधिक स्निग्ध है, मृदुसे भी मृदुल और रमणीयसे भी रमणीय है। उसके रश्मिकणसे ही रसिक जन अत्यन्त मुग्ध हो जाते हैं, मतवाले हो जाते हैं, स्नेहसे भर जाते हैं, रोमांचित होते हैं, लुभा जाते हैं, संसारको भूल जाते हैं, तृप्त हो जाते हैं और सर्व-स्वका त्याग कर देते हैं। इसीसे उनके हृदयकी अग्नि प्रदीप्त होती है, शब्दातीतका श्रवण होता है और अदृश्यका दर्शन होता है।

प्रेमका माहात्म्य ही ऐसा है कि श्रीकृष्ण, प्रेयसी राधा, सहचरी, वृन्दावन-धाम सबके सब अद्वितीय ही हैं—पूर्ण ही हैं। यहाँ विजय ही पराजय है। पराजय ही विजय है। दैन्य ही उत्कर्ष है और उत्कर्ष ही दैन्य है। यहाँ पारवश्य ही स्वातन्त्र्य है और स्वातन्त्र्य ही पारवश्य है। अहो ! यह प्रेमराज्य है। रसिकोत्तंसकी अमर कृति 'प्रेमपत्तन'में इसका विस्तार देखने योग्य है।

सत्यं शिवं सुन्दरं का अभिप्राय यह है कि जो सत्य है वही शिव है, जो शिव है वही सुन्दर है। जैसे सत्यके योगसे असत्य जगत् भी सत्यके समान प्रतीत होता है, शिवके साथ अशिव भी मङ्गलमय हो जाता है, वैसे ही सत्य-शिवके संसर्गसे असुन्दर भी सुन्दर हो जाता

---

* मधुरान्मधुरं नित्यं दिव्यं विहरणं तयोः।
अनौपम्यमनौपम्याद्रसानां रसवत्तमम् ॥
सुखसारं विलासानां नित्यं विलसनं प्रियम्।
प्रेम्णामपि प्रेमतमं निर्वितर्कमगोचरम् ॥
विभ्रमप्रभवस्यापि विप्रलम्भस्य कल्पना।
यत्र भीतिकरी भाति विप्रलम्भः कथं त्विह ॥

है। सचमुच सौन्दर्य सर्वके रूपमें प्रकट हो रहा है। स्त्री, पुरुष, नपुंसक सब उसीके प्रकार-भेद हैं। परस्पर विलक्षण उपाधियोंके भेदसे ही वह भिन्न-भिन्न-सा अनुभवमें आता है। नित्य-निरन्तर नवनवायमान होना ही तो रमणीयताका रूप है। जहाँ, जितने अंशमें सत्त्वका उद्रेक होता है, वहाँ उतने ही अंशमें अनन्त, अपार, अगाध सौन्दर्य-रस प्रकट होता है। नवनवोन्मेषशालिनी सात्त्विक वृत्तिके द्वारा अखण्ड एक-रस वस्तुमें भी नवनवायमानता भासती है। इसीसे किसी-किसीका कहना है कि सौन्दर्य अन्तःकरणका धर्मविशेष है। जहाँ यह कहा गया है कि अङ्गोंके यथोचित सन्निवेषका नाम सौन्दर्य है, वहाँ शरीर आदिकी दृष्टिसे ऐसा कहा गया है। वहाँ भी सन्निवेषका औचित्य आदि सौन्दर्यका अभिव्यंजक ही है, सौन्दर्य नहीं। इसीसे मुख्य सौन्दर्य बाह्य वस्तुमें नहीं होता, हृदयमें ही होता है।

अब प्रश्न यह होता है कि यदि सौन्दर्य भगवद्रूप ही है तो सबको उसकी एक समान अनुभूति होनी चाहिए, परन्तु लोक-व्यवहारमें इसके विपरीत विषमताकी अनुभूति देखी जाती है। एक ही वस्तुमें सरस अन्तःकरणको अधिक और नीरस अन्तःकरणको न्यून सौन्दर्यका भान होता है। परन्तु ऐसा कहना भी ठीक नहीं है। जैसे विशेष सात्त्विक वृत्ति भगवदानन्दको अभिव्यक्त करती है, वैसे ही हृदयकी सरसता ही सौन्दर्य-विशेषको अभिव्यक्त करती है। इसलिए अनुभूतिमें सौन्दर्यका तारतम्य नहीं है, अभिव्यंजकका ही तारतम्य है। जैसे विशेष प्रकारके पुण्यसे भगवदानन्द-व्यंजक असाधारण सात्त्विक वृत्ति प्राप्त होती है, वैसे ही विशेष पुण्यसे विशिष्ट सत्त्वका उद्रेक होनेपर विशेष-विशेष वस्तुओंमें सौन्दर्य-व्यंजन सन्निवेषका औचित्य और भोक्ता-जनोंके हृदयमें उसका अनुभव करानेवाली सरसता आदिकी उत्पत्ति होती है। श्रीमद्भागवतके ग्यारहवें स्कन्धमें यह स्पष्ट कहा गया है कि भगवन्मूर्ति लोक-लावण्यका उद्‌गम स्थान है, अर्थात् जगत्‌के सारे सौन्दर्य भगवद्रूप ही हैं। उनके अनुभवके लिए धर्मोपासनाजन्य-प्रेमविशिष्ट वृत्तिमें ही न्यूनाधिक्य होता है। मूलमें 'लोक-लावण्यनिर्मुक्ति' शब्दका प्रयोग है। 'निर्मुक्ति' शब्दका अर्थ है, दान। अपनी उसी उदार मूर्तिसे वे लोक-लोचनको आकृष्ट करते हैं। जैसे आनन्द-सिन्धु भगवान् ही अन्यत्र अपने आनन्द-कणोंका

चलनेकी देर

मैंने एक महात्मासे पूछा : गीतामें भगवान्‌ने कहा है कि 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।' मैं भगवान्‌की ओर सौ कदम चलूँ तो क्या वे भी मेरी ओर सौ पग बढ़ेंगे ?

वे बोले : 'बावरा है तू ! यदि तू भगवान्‌की ओर एक कदम चलता है तो वे भी एक कदम तेरी ओर चलेंगे। तुझे या उन्हें सौ कदम चलनेकी जरूरत नहीं पड़ेगी। एक एक पग फुट-दो-फुटका होगा; परन्तु उनका एक ही पग तुम दोनोंके बीचकी सारी दूरी पाट देगा। बस; तेरे चलने भरकी देरी है।'

—महाराजश्री

वितरण करते हैं, वैसे ही सौन्दर्य-सिन्धु भगवान् ही अन्यत्र कर्मानुसार, विद्यानुसार सौन्दर्य आदिका वितरण करते हैं। भक्तोंकी दृष्टिसे भगवान्‌में नित्य नूतनता अथवा नित्य नव-नवायमानता भी संगत ही है। श्रीमद्भागवतमें कहा है कि भगवान् श्रीकृष्ण अहर्निश अपनी पत्नियोंके साथ एकान्तमें निवास करते हैं तथापि उनकी पत्नियोंको उनके चरण-कमल 'नवम्-नवम्' ही लगते हैं : तस्याङ्घ्रियुगं नवं नवम्।

जहाँ अतिशय सौन्दर्य होता है, वहीं काम सम्पन्न होता है। जहाँ काम होता है, वहीं प्रेम भी प्रकट होता है। श्रुति भी आत्मकामको प्रधान और अन्य प्रेमको गौण बताती है। अपने प्रति प्रेम शेषी है और दूसरेके प्रति शेष है। आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। यही कारण है कि आत्मासे अन्य सोपाधिक प्रेमका विषय होता है और उससे जो प्रेम होता है उससे भी अधिक अन्यत्र हो जाता है। आत्मा निरुपाधिकको प्रेमका विषय है, इसलिए निरतिशय प्रेमका आस्पद है, अर्थात् आत्मासे अधिक प्रेम किसी अन्यसे नहीं होता। काम, इच्छा, प्रेम—इनमें अवान्तर भेद होनेपर भी यह समानता तो सबमें है ही कि ये वस्तु-सौन्दर्यके अनुभवसे उदय होते हैं। लौकिक वस्तुओं और काव्य-संगीत आदिका सौन्दर्य सोपाधिक तथा सातिशय होता है, इसलिए उनके प्रति प्रेम भी वैसा ही होता है। भगवान्‌का सौन्दर्य निरतिशय एवं निरुपाधिक होता है, इसलिए उनके प्रति प्रेम भी निरुपाधिक एवं निरतिशय ही होता है।

लोक-व्यवहारमें यह देखा जाता है कि प्रेम और सौन्दर्यके आश्रय अलग-अलग हैं, अर्थात् प्रेमी कोई है और सुन्दर कोई है। साथ ही प्रेम विषयी है और सौन्दर्य विषय है, तथापि प्रेम और सौन्दर्य दोनोंकी प्रकृति निर्विवाद रूपसे एक ही है। उदाहरणके लिए नेत्र और रूपको लिया जा सकता है। नेत्र विषयी है, रूप विषय है, परन्तु दोनोंका उपादान तेज ही है; ठीक वही बात यहाँ भी है।

रस-रूप भगवान् ही एक-प्रकृति हैं। रस-रूप भगवदात्मामें प्रेम और सौन्दर्यकी एकता है। 'यत्परो नास्ति' जिससे परे कुछ नहीं है—ऐसे प्रेमका आश्रय होनेके कारण आत्मा ही सर्वातिशायी सौन्दर्य है और वही प्रेमरूप भी है। लोक-व्यवहारमें प्रकाश्य और प्रकाश भिन्न-भिन्न होते हैं तथापि आत्मामें प्रकाश्य और प्रकाश एक ही होते हैं; क्योंकि जो वेद्य-विलक्षण होकर भी अपरोक्ष हो, उसे स्वयं-प्रकाश कहते हैं। आत्मा प्रकाश-स्वरूप भी है और निरावरण-स्वरूप भी। ठीक यही बात इस सम्बन्धमें भी है। आत्मा ही निरतिशय-प्रेमास्पद है, इसलिए वही परमानन्दरूप और सौन्दर्यरूप भी है। रसरूप होनेके कारण वही प्रेमरूप भी है। इस प्रकार अत्यन्त अभेद होनेपर भी लीला-कैवल्य-न्यायसे भेद प्रकट करनेके लिए सौन्दर्य-मय आनन्द वृषभानुनन्दिनी हैं और प्रेम अथवा रस नन्दनन्दन हैं। अन्य सम्प्रदायोंमें इन्हींको त्रिपुरसुन्दरी, कामेश्वरी, त्रिपुरसुन्दर आदि नामोंसे कहा जाता है।

कोई-कोई मूल तत्त्वको ब्रह्मतत्त्व और कोई-कोई उसीको हित-तत्त्व कहते हैं। वही परात्पर प्रेमरूप भी है। आनन्दकी अज्ञात सत्ता नहीं होती। जो अप्रकाशमान है वह आनन्द कैसा? साथ ही प्रत्य-गात्मा नित्य अपरोक्ष है। यही कारण है कि प्रत्यगात्मासे अभिन्न होकर ही परमात्मा स्वप्रकाश और आनन्दरूप है, इसलिए प्रत्यगात्मा ही पुरत्रय-साक्षिणी त्रिपुरसुन्दरीके नामसे कहा जाता है। लोक-व्यवहारमें जो प्रेम और सौन्दर्यकी पृथक्ता देखनेमें आती है, वह स्थूल देश, काल आदिकी उपाधिके कारण है। फिर भी प्रेम एवं सौन्दर्यका सहज सम्बन्ध लोकमें भी स्पष्ट देखा जा सकता है। जितने अंशमें काव्य-संगीतादिके द्वारा देश, काल आदिका अतिक्रमण होता है, उतने ही अंशमें सहजता व्यक्त होती है। उसीसे सहृदयके हृदयमें प्रेमरस और सौन्दर्यका प्रकाश होता है। श्रीराधा-कृष्ण तो दिव्य

दम्पती हैं। उनमें प्रेमरस और सौन्दर्यकी पूर्ण एकता, समरसता अथवा एकरसता प्रकट होती है। यही कारण है कि विपिनराज श्रीवृन्दावन धाममें परमानन्दरसमयी रासक्रीड़ामें लोकोत्तर प्रेम और सौन्दर्यको ही प्रियतम-प्रेयसी अर्थात् राधा-कृष्णके रूपमें अभिव्यक्ति दी जाती है। लोकोत्तर, वन्दनीय, मधुरप्रेमके बन्धनमें आबद्ध, परस्पर प्रेमासक्त श्रीराधाकृष्णका पूर्ण सामरस्य होनेके कारण एक ही रुचि है, एक ही आस्वादन है। सर्वातिशायी अनुराग-रस-सरोवरमें दिव्य प्रेम ही नीलकमल-रूप श्रीकृष्ण है और दिव्य सौन्दर्य ही पीत-पद्मिनी श्रीराधा है। प्रेम ही सौन्दर्य है और सौन्दर्य ही प्रेम है। माधव ही राधा है और राधा ही माधव है। रागोद्रेकसे मोहिनी मोहन और मोहन मोहिनी हो जाते हैं।*

अचिन्त्य, अद्भुत, दिव्य-लीला-शक्तिसे सान्द्र, प्रेम-सौन्दर्यघन, संविदानन्द ही यहाँ मूर्तिमान् होकर रसिक और रसनीय हैं।

(सावशेष)

---

* दिव्यरागमहोद्याने पुष्पितं नीलमुत्तमम्।
प्रेमैव परमः कृष्णो नागरः परिकीर्तितः॥
तत्रैव पुष्पितं पीतपुष्पं सौन्दर्यमुत्तमम्।
राधिका नागरी प्रोक्ता श्रीकृष्ण-प्राणवल्लभा॥
प्रेमैव किल सौन्दर्यं सौन्दर्यं प्रेमरूपधृक्।
तेनैव माधवो राधा राधैव ननु माधवः॥
रागोद्रेकान्मोग्यरूपा मोहिनी मोहनो भवेत्।
रसेश्वरो रसोद्रेकान्मोहनो मोहिनी तथा॥
यद्वा—घनश्याम-तमालेन तरुणेन तु मोहिनी।
दिव्य-स्वर्णलताऽऽश्लिष्टा तरुणी ननु राधिका॥
अद्भुते प्रेमपर्यङ्के सौन्दर्यास्तरणान्विते।
प्रेम-सौन्दर्यसर्वस्वौ संश्लिष्टौ दम्पती मुदा॥
प्रेमरूपावुभौ यद्वा सौन्दर्यैकस्वरूपकौ।
प्रेमसौन्दर्य - सर्वस्व - दिव्यामृत - महार्णवौ॥
समतिक्रान्तसीमानौ परिष्वक्तौ मुदोन्मदौ॥ इति

विविक्तदेश-सेवित्व

जहाँ ईश्वर-चिन्तनकी सुविधा हो, वहाँ बैठो। कुछ लोग समझते हैं कि कई लोग मिलकर अध्यात्ममार्गमें प्रवेश कर सकते हैं। यह बात सहायक तो नहीं ही है, विघ्न भी है। यह अध्यात्मका मार्ग बाहरसे भीतर जानेका—अन्तर्मुख होनेका मार्ग है और सबके अन्तःकरणकी वासनाएँ पृथक्-पृथक् हैं। अतः सबको पृथक्-पृथक् ढंगसे ईश्वर-प्राप्तिके मार्गमें बढ़ना होगा।

एक बार तीन-चार साधक एकत्र हुए। उनमें 'रामचन्द्रिका'के रचयिता महाकवि केशवदास भी थे। उन लोगोंने निश्चय किया—'हम परलोकमें भी साथ ही रहेंगे। भगवान् भी मिलें तो सबको साथ मिलें।'

मरनेतक उन्हें भगवत्प्राप्ति हुई नहीं। वृद्धावस्था आगयी। अब वे सोचने लगे—'मरनेपर भी हम साथ कैसे रहें?'

कर्मकी गति ज्ञात होती नहीं! कर्म-नियन्ता जीवको कहाँ और किस योनिमें भेजेगा, पहलेसे पता लगता नहीं; किन्तु वे लोग शास्त्रोंके पण्डित थे। वे परस्पर विचार करने लगे—'हम ऐसे ढंगसे मरें कि मरनेपर भी हमारा साथ न छूटे।'

वे तीनों-चारों एक कुएँमें गिरकर मरे। आत्महत्या करनेके कारण प्रेत हुए। एक साथ वहीं रहने लगे। बहुत दिन पीछे गोस्वामी तुलसीदासजी रात्रिमें घूमते हुए उस कूपके समीपसे निकले तो कूपमें-से आता शब्द उन्हें सुनायी पड़ा। उसमेंसे कवितामें रामचरित-वर्णनकी ध्वनि आ रही थी। गोस्वामीजी चौंके—'यह कूपमें श्रीराम-चर्चाकी ध्वनि कैसी? कौन महानुभाव हैं इसमें?

गोस्वामीजीने पुकारा। प्रेत उनके सम्मुख प्रकट हुए। उन्होंने अपनी इस अधोगतिका कारण बतलाया। अपने उद्धारकी प्रार्थना की। गोस्वामीजीने अनुष्ठान करके उन लोगोंको प्रेतयोनियोंसे मुक्त किया।

इसका तात्पर्य यह है कि सबके अन्तःकरणकी स्थिति—सबकी वासनाएँ भिन्न-भिन्न हैं। अतः सबके अन्तर्मुख होनेका ढंग, सबकी बात समझनेकी शैली भिन्न-भिन्न होती है।

कष्टसे कभी न डरें

●

प० पू० महामण्डलेश्वर स्वामी श्री गङ्गेश्वरानन्दजी महाराज

❀

नीतिकार कहते हैं :

कष्टाज्जातु न भेतव्यं ज्ञेयं तत्सहनं तपः।
पुरूरवा ततो लेभे पुरा स्थालीपुरस्कृतिम् ।।

अर्थात् उत्कर्षका इच्छुक मानव कष्टसे तनिक भी न डरे। वह समझ ले कि कष्ट सहना बहुत बड़ा तप है। प्राचीन कालमें पुरूरवाने कष्ट सहकर ही अग्निस्थालीका पुरस्कार प्राप्त किया।

सचमुच कष्ट तपोंका तप है। आखिर तपसे क्या साधा जाता है ? इन्द्रियाँ और मन तपा-तपाकर कांचन-से बनाये जाते हैं, यही न ? तो कष्ट भी वही काम करता है। यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन ये साधनमार्गके उत्तरोत्तर प्रगत चरण हैं। भारतीय इतिहासका यही आप्यायनकारी सार-सर्वस्व है। इस पवित्र भूमिमें अबतक कितने ही व्यक्ति तपके बलपर अजर-अमर हो गये, आज हैं और भविष्यमें भी होंगे। भारतकी वसुन्धरापर तप और तपस्वियोंका न कभी दारिद्र्य रहा है और न रहेगा, यह सुनिश्चित है।

ऐसे ही स्वनामधन्य तपस्वियोंकी श्रेणीमें इलापुत्र महाराज पुरूरवाका भी अक्षुण्ण स्थान है। पुरूरवाके धैवत स्वरसे भारतीय वाङ्मयका विशाल व्योम चतुर्दिक् गूंजता आ रहा है। प्राचीन भारतीय इतिहासकी अमर स्रोतस्वतीसे चन्द्रवंशीय राजवंशकी गंभीर कुल्या (नहर) प्रवाहित करनेका श्रेय इन्हीं महाराज पुरूरवाको है। यही नहीं, ये सूर्य और चन्द्रवंशीय राजवंशोंकी संगम-स्थली भी माने जाते हैं। भारतभूमिके सम्राटोंके पौरुषकी विजय-वैजयन्ती अमरावतीके अभ्रंलिह प्रासादोंपर फहरानेका कीर्तिमान इन्हीं सम्राट्ने स्थापित किया है। यहीं क्यों ? अपने सुदुर्लभ पुरुषार्थसे देवराजकी सुधर्मा-राजसभाके अमररत्नको अपने वक्षःस्थलपर धारण-कर वसुन्धराकी ही गोदमें खेलनेका अग्निदिव्य पुरुषार्थविलास

एकमात्र इसी भारतके लालका है। किम्बहुना, इस कर्मभूमिमें 'त्रेताग्नि'का विशाल औद्योगिक प्रतिष्ठान स्थापितकर प्रतिष्ठानपुरके इस सम्राट्ने सदाके लिए त्रिविष्टपकी सारी विपणि (बाजार) पर कब्जा कर लिया है। तभीसे उसके द्वारा प्रचालित यह व्यापार आजतक चला आ रहा है और आगे भी चलता रहेगा। भारतीय चन्द्रवंशके इस प्रथम सम्राट्के इतने लोकोत्तर पुरुषार्थका बीज यदि किसी वस्तुमें निहित है तो वह है कष्ट-सहन, दूसरे शब्दोंमें तपःसाधना।

'तप' कहनेके साथ ही मनश्चक्षुओंके सामने अकस्मात् एक बड़ा रूखा वातावरण खड़ा हो जाता है। पर इस प्रथम चन्द्रवंशी सम्राट्का तप ऐसा नहीं, प्रत्युत अत्यन्त सरस रहा है जिसे चित्रित करनेमें अमर वाङ्मय वेदने कलम ही तोड़ दी है। विशालकाय ऋग्वेदके अंगुलिगण्य बीस संवादसूक्तोंमें भारतके इस सरस तपोमूर्तिको हृत्तन्त्रीके स्वर हये जाये मनसा तिष्ठ घोरे···! के रूपमें गूँज उठते हैं। निश्चय ही इन स्वरोंकी माधुरी ये गीत गुनगुनानेवाले आर्ष सांस्कृतिक कार्यक्रमके आयोजक ही जान सकते हैं।

यही कारण है कि नीतिकार तार स्वरमें भारतभूमिके लाड़लोंको बड़े गर्वके साथ यह उपदेश देनेका साहस करते हैं कि कष्टात् तावन्न भेतव्यम्। आज भारतभूमिके लाड़ले बड़े ही नाजुक बन गये हैं। कष्टसे तो वे छुईमुई-से लजाते हैं। विलासके लास्यके रंगमंचपर उतरते तो हैं, पर दूसरे ही क्षण कमर तोड़कर मोड़ ले लेते हैं! क्या वे इसका सच्चा रसास्वाद ले सकते हैं ? कदापि नहीं। इसका रस तो वे ही जान सकते हैं जो कष्टके अखाड़ेमें उतरे हों; सैकड़ों डण्ड पेलकर, हजारों बैठकें मार और बोसियों पकड़ें कर वृषों-से अंस, गंगातट-सा वक्ष और करभ-से ऊरू बना लिये हों! आज भारतमाता चाहती है कि उसके लाड़ले कष्ट-सहन करें, तप करें और पुरूरवा-सा कोई दिव्य तेज देकर विश्वको समन्ततः आलोकित कर छोड़ें। तो आइये, हम-आप मनन करें पुरूरवाका सरस उज्ज्वल तपोमय चरित्र और उसे सदाके लिए चित्रित कर लें अपने जीवनपटलपर!

ओहो! देखिये, ये सोमपुत्र बुध आ रहे हैं और उधरसे आ रही है इला! बड़ी ही रहस्यमयी नारी है यह! छः महीने नारी रहती है तो शेष छः महीनोंमें बन जाती है पट्ठा जवान! करे भी

क्या वेचारी ? पहुँच गया महाराज मनुका पुत्र सुद्युम्न घूमते-घामते हिमालयके गौरी-वनमें। वहाँ जगज्जननी पर्वतराजपुत्री कैलाशपतिके साथ विलासमें प्रवण थीं। क्या पता था उस निरागसको कि यहाँ घुसनेपर कोई भी पुरुष स्त्री वन जाता है। देवीने दृष्टि डाली तो वन गया सुद्युम्न इला! इलाने भोलेबाबासे बड़ी बिनती की। दयालु ही ठहरे, पिघल पड़े और कह दिया, 'जाओ, छः महीने सुद्युम्न बनो तो छः महीने इला!' यही है इस सृष्टिविचित्र इलाका बड़ा रहस्य।

वेचारी इला गौरीवनसे शंकरका यह अनुग्रह पा लौट रही थी कि मार्गमें चन्द्रपुत्र बुधसे आँखें चार हो गयीं। बुध कहाँ ऐसा सुदुर्लभ रमणीरत्न छोड़नेवाले थे ? ले गये अपने साथ। और उन्हीं दोनोंके पुरुषार्थसे हम भारतीयोंको सुलभ हुए सूर्य-चन्द्र-वंशके सेतु पुरूरवा! प्रतिष्ठानपुरके अधिपति, भारतके प्रथम चन्द्रवंशी सम्राट्, जिनके वंशको आगे चलकर भगवान् नन्दनन्दनने अपने जन्मसे सदाके लिए प्रोज्ज्वल कर दिया।

युवा होते ही प्रजाने पुरूरवाको प्रतिष्ठानपुरके राजसिंहासनपर अभिषिक्त किया। उनके शरीरसे फूट रही थीं यौवनकी उमंगें और मुखमण्डलपर झलकती थी सौन्दर्यकी स्निग्धता! रणभूमिमें पदार्पण करते ही उस मूर्तिमान् शौर्यको देख शत्रुके हृदय बैठ जाते। ऐसे पुरुषको प्रजा अपना शासक न बनाये तो किसे बनाये ? राज्याभिषेकके साथ पुरोहितने उनसे प्रतिज्ञा करवायी और उन्होंने उसे दुहराते हुए कहा : 'जिस दिनसे मैंने जन्म लिया और जबतक इस भूतलको भूषित करता रहूँगा, तबतकके सारे पुण्योंको पणमें लगाकर प्रतिज्ञा करता हूँ कि प्रजाका रक्षण और अनुरंजन मेरा सर्वप्रमुख अनुपेक्ष्य कर्तव्य रहेगा।'

प्रजाने न केवल उनके ये मात्र श्रुतिमधुर शब्द सुने, उनके भविष्य जीवनमें इसका अर्थ भी साकार देखा। वे जहाँ शत्रुको दण्डधर महाकाल दीख पड़ते, वहीं प्रजाके मन-चकोरोंको उनकी मुख-चन्द्रिका सदैव आप्यायित किया करती। यही कारण है कि राजा और प्रजाके दोनों चक्र समान गतिसे अक्षुण्ण चल पड़े तथा महाराज पुरूरवाका साम्राज्य-शकट उत्तरोत्तर प्रगतिके पथपर आगे बढ़ा।

उनका रथ न केवल इस भूमण्डलपर ही दौड़ता, वरन् अमरलोकके राजत-स्वर्णिम पथोंपर भी उसने कई बार दौड़ लगायी। जब-तब असुरोंका उत्पात बढ़ जानेपर देवराज इन्हें स्मरण करते और ये वहाँ पहुँच अपने विक्रम-पौरुषसे देखते-देखते शत्रुके सारे अभ्र छाँट डालते।

– २ –

एक बार पुरूरवा असुरोंका विदलनकर अमरलोकसे लौट रहे थे कि उन्हें दूरसे ही 'बचाओ, बचाओ' की ध्वनि सुनायी पड़ी। रथको पूरी गति दे वे बढ़े तो सामने एक विशालकाय दैत्यको अपने बाहुपाशमें एक नवनीत-सुकोमला रूपराशिको जकड़कर ले जाते हुए देखा। गुहार उसी गौकी सुनायी पड़ रही थी। वह अधम वृक उसे बलात् निगल जानेपर उतारू हो गया था।

महाराज पुरूरवाने बड़े शौर्यसे उस दैत्यका सामना किया और अन्ततः उसे धराशायी करके अचेत-सी पड़ी उस रमणीको गोदमें उठा रथपर बिठा लिया। उसे उठाते समय महाराजके गात्र स्वेदसे क्लिन्न हो उठे। उन्होंने वह दिव्य रूपराशि रूप-सागर गन्धर्वोंको लाकर सौंप दी। गन्धर्वोंने महाराज पुरूरवाके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त की।

× × ×

महाराजका स्वर्गका कार्य प्रायः पूरा हो चुका था। अब वे भूमण्डलपर अपने घर लौटना चाहते थे, पर देवराजके आग्रहसे दो-तीन दिन अमरावतीमें रुक गये। अमरलोकके सम्राट्ने भारत-सम्राट्के स्वागतका विराट् आयोजन किया। स्वर्गसुन्दरी उर्वशीको नृत्यके लिए बुलाया गया।

बेचारी अभी-अभी कुछ दिन पूर्व दानवके भीषण उत्पीडनका शिकार बनी हुई थी। उसके अयोमय बाहुपाशोंसे उसकी नवनीत-पेशल देहलतापर किण-से उभर आये थे। दो दिन तो वह अचेत ही पड़ी रही। बीच-बीचमें उठ बैठती और कहती कि 'मैं कहाँ हूँ, मुझे कौन यहाँ ले आया?' उसके परिचारक आप्तजन गन्धर्व कहते : 'वरा-रोहे, तुम अभी घर पर हो। भूमण्डलके सम्राट् पुरूरवाने तुम्हें अत्यन्त दुर्दम दानवसे बचाया। बड़े भाग हैं तुम्हारे!' उसी दशामें वह पूछती :

'कौन, पुवा ?' गन्धर्व कहते : 'नहीं, सम्राट् पुरूरवा !' वह पुनः दुहराती : 'पुरवा ?' गन्धर्व सुधारते : 'नहीं, पुरूरवा !' वह रटने लगती : 'पुरूरवा, पुरूरवा, पुरूरवा !'

इसी वेचैनीको पारकर अभी-अभी उर्वशी कहीं प्रकृतिस्थ हो पायी थी कि देवराजका आदेश आ पहुँचा : 'आज सम्राट् पुरूरवाके सम्मानमें आयोजित स्वागत-समारोहमें तुम्हें नृत्यके लिए आना है।' स्वास्थ्यके प्रतिरोधकी भी उपेक्षाकर महाराजके प्रति कृतज्ञताने नृत्यका यह आदेश उससे स्वीकार करवा लिया।

सुधर्मा (देवसभा) के विशाल दिव्य अंगणमें इस सांस्कृतिक समारोहका श्रीगणेश हुआ। देवराजके निकट ही समानस्तर आसन लगा हुआ था, जिसपर आसीन थे भारत-हृदय-सम्राट् चन्द्रवंशी प्रथम वीर क्षत्रिय पुरूरवा ! देवराजने उनके स्वागतमें श्रद्धासौगन्ध्यसे भरे वाक्सुमन विखेरे :

'क्षत्रिय-वीर ! आज समस्त अमरलोक आपका चिरकृतज्ञ है। आपने अतिदुर्दमनीय अनेकानेक असुरोंका परिशोधनकर अमरलोकको अमल वना दिया। जानता हूँ कि इन असृपोंका सामना करनेमें आपको कितने अवर्णनीय, अकल्पनीय कष्ट उठाने पड़े। फिर भी अत्यन्त धीरता-वीरतासे उन्हें तृण-सा परिगणितकर आपने सफलताका यह सोपान पादाक्रान्त कर लिया। हमें विश्वास है कि जब कभी हमारे देव-बन्धुओंपर ऐसी अदम्य आपदाएँ आयें तो उनके निमन्त्रणको सम्मान दे आप पधारकर उन्हें आश्वस्त किया करेंगे। वताइये, आज हम आपका क्या प्रिय कर सकते हैं ?'

महाराज पुरूरवाके सामने सुरसुन्दरी उर्वशी खड़ी थी। उसके नवनीत-कोमल गात्रका सुखस्पर्श उन्हें अनुभूत था ही। हृदयमें छिपी वासना उभर उठी और मुखके साँचेसे उसने वैखरीका आकार धारण कर लिया : 'देवराज, आपके इस गौरवके लिए अत्यन्त आभारी हूँ और भविष्यत्के आदेशका नम्र विधेय। प्रियकी बात तो मुझे अवतक उर्वशीके सिवा कोई जँची ही नहीं। भूमण्डलके सम्राट्के साथ स्वर्ग-सुन्दरीके महिषी-सम्बन्धसे बढ़कर दोनों लोकोंको जोड़नेका सूत्र क्या हो सकता है ?'

महाराज पुरूरवाके प्रस्तावपर सारी सुधर्मामें एक स्तब्धता छा गयी ! स्वर्गकी नाक भूमण्डलके सम्राट्को विभूषित करे ! यह

अनहोनी बात थी, पर भारत-सम्राट्के असीम उपकारोंके सामने किसीको चूँ करनेका साहस न हुआ।

देवराजने उर्वशीको संकेत किया। महाराज पुरूरवाके उपकारसे वह भी उपकृत, और प्रत्यक्ष उपकृत थी। इसके अतिरिक्त उनके सत्त्वसार अंगके सुखद स्पर्शका अनुभव भी वह कर चुकी थी, जिसका आकर्षण भी उसे कुछ खींच रहा था। वह देवराजके संकेतका अर्थ समझ गयी और बड़े विनयके साथ बोली :

'देवराज, अतिथि सदैव पूजनीय और संभावनीय होते हैं। फिर इन्होंने तो हम देवोंपर महान् अनुग्रह भी किया है। अतएव आप द्वारा प्रिय वस्तुकी माँगके अनुरोधपर भारतसम्राट्का यह प्रस्ताव सर्वथा परिपूरणीय है। किन्तु स्वर्गीय वस्तुका सदैवके लिए मानुषी-करण भी अनहोनी बात होगी और होगा मर्यादाका अतिक्रमण! फिर भी मैं तीन शर्तोंके साथ इनका प्रस्ताव स्वीकार करनेके लिए प्रस्तुत हूँ। इसमें भी एक रहस्य है, जो आज आपके सामने स्पष्ट कर देती हूँ।'

उर्वशी ने अपनी उस रहस्यमयी घटनाको बताते हुए आगे कहा : 'अभी कुछ दिन पूर्व मैं मानस-सरोवरकी ओर गयी थी। वहाँ एक परम तपस्वी ऋषि-दम्पती रहते हैं। उस प्रदेशमें उनके ऋषित्वकी अच्छी ख्याति थी। पर मैं जब उनके पास पहुँची तो वे किसी कारण रुष्ट अपनी साध्वीको मना रहे थे और वह मान नहीं रही थी। उनकी ख्याति सुन मैं दर्शनार्थ गयी, पर ऋषिको इस तरह प्रणय-व्यापारमें रत देख मुझे हँसी आ गयी। ऋषि क्रुद्ध हो उठे और शाप दे बैठे : 'मनुष्यकी हँसी उड़ाती है तो तू भी मानुषी बन।' मैं घबड़ा उठी, उनके चरणोंमें गिर पड़ी और शापके प्रतिशापके लिए अनुनय-विनय करने लगी। ऋषिको दया आ गयी, बोले : 'ठीक है, मेरा शाप तो भुगतना ही पड़ेगा। मात्र तीन शर्तें तुम्हें बताता हूँ और वे ही तुम्हारे उद्धारमें सहायक होंगी। जो उनका पालन करेगा, तुम्हें मानुषी बनाकर रख सकेगा। यदि पालन न कर सका तो बस, तुम मुक्त होकर पुनः अप्सरा बन जाओगी।'

इन्द्र इस वृत्तान्तसे आश्चर्यविभोर हो गये। पदका भी ध्यान न रखकर बीचमें ही उछलकर पूछने लगे : 'कौन-सी हैं वे शर्तें ?'

उर्वशीने कहा : 'देवराज, ऋषिने मुझपर अनुग्रह करते हुए बताया कि तुम १. सदैव घृतका आहार लिया करो, २. साथमें सदैव दो मेष बनाये रखो और ३. शयनके सिवा कभी भी पतिको नग्न न देख पाओ। पालकको तुम्हारी ये तीनों शर्तें पूरी करनी होंगी। तीनोंमेंसे एक भी शर्तका उल्लंघन हो जाय तो तुम पालकसे मुक्त हो मानुष रूप त्याग पुनः अप्सरा बन जाओगी। देवेन्द्र, मुझे दीखता है, ऋषिका शाप फलित होनेका अवसर आ गया है। यही कारण है कि महाराजको भी ऐसा प्रस्ताव सूझा। अतः कुछ कालके लिए स्वर्गीय वस्तुके इस मानुषीकरणमें मुझे कोई अनौचित्य नहीं दीखता, यदि भारत-सम्राट् मेरी इन तीन शर्तोंको मान लें।'

सारी देवसभा यह अद्भुत वृत्तान्त सुन चित्रलिखित-सी बन गयी। सभीकी दृष्टियाँ महाराज पुरूरवाके मुखकी ओर आकृष्ट हो गयीं।

महाराज पुरूरवाने कहा : 'ठीक है, शर्तें कोई बड़ी नहीं, पालन कर ली जायँगी।' वे विश्वमनोमथन-मन्मथके शिकार जो बन गये थे।

देवराजने भी 'तथाऽस्तु' कहा और सभा विसर्जित हो गयी। महाराज पुरूरवा उर्वशीको साथ लेकर स्वर्गसे भूमण्डलके लिए चल पड़े।

– ३ –

भारत-सम्राट् पुरूरवा द्वारा उर्वशीको अपनी सम्राज्ञी बनाकर स्वर्गसे भूतलपर लाये जानेसे प्रतिष्ठानपुरकी जनताका गर्व-मिश्र आनन्द हृदयमें नहीं समा रहा था। प्रजाने बड़े उल्लाससे महाराजका स्वागत किया। स्वयं महाराजको भी सुदुर्लभ रत्न हस्तगत होनेसे परम सन्तोषका अनुभव हुआ। इसी उत्साहमें उस सुरसुन्दरीको सर्वोत्कृष्ट मानवीय भोगोंका आस्वाद करानेमें उन्होंने कोई भी बात उठा न रखी।

इधर उर्वशीके देवलोकसे चले जानेसे देवोंमें एक भीषण विषाद छा गया। वहाँकी अभ्रगंगा, उसके स्वर्णिम पद्म, नन्दनवन, पारिजात, उच्चैःश्रवा, ऐरावत आदि सभी वस्तुएँ यथास्थित होनेपर भी एक उर्वशीका अभाव उन्हें भोजनमें लवणके अभावकी तरह खटकने लगा। गन्धर्वोंसे यह स्थिति देखी न जा सकी।

विचार चला, किस तरह उर्वशीको पुनः स्वर्गमें प्रत्यावर्तित कराया जाय। किसीने कहा : 'इसमें कौन-सी बड़ी बात है। उसने तीन शर्तें जो रखी हैं। उन्हींमें-से किसी एकको हम राजा द्वारा भंग करवा दें तो काम सहज ही बन जायगा।'

फिर क्या था। मध्यरात्रिके समय एक गन्धर्व प्रतिष्ठानपुरमें आया और उर्वशीके पर्यङ्कके पास बँधे दो मेषोंमें-से एकको उठाकर आकाशमें ले भागा। उसकी करुण पुकार उर्वशीने सुनी, पर महाराज एकदम मौन थे। थोड़ी ही देर बाद गन्धर्व-द्वारा खोलकर ले जाये जाते दूसरे भी मेषका करुण-क्रन्दन सुनायी पड़ने लगा तो अब अप्सरासे रहा नहीं गया। वह अपनेको 'निराश्रय, निरालम्ब, अनाथ' कहकर फूट-फूटकर रोने लगी।

स्त्रियोंके अन्तिम शस्त्र रोदनने महाराजको भी विचलित कर दिया। अपनी नग्नतापर ध्यान न देते हुए वे चट उठे और जिस दिशासे रोनेकी ध्वनि आ रही थी उसी ओर दौड़ पड़े। देव तो ताकमें थे ही। चट उन्होंने उस घनीभूत कालिमामें बिजलीको चमकवा दिया। राजाका विवस्त्र शरीर सेजसे बाहर आकर बिलखती उर्वशीकी आँखोंके समक्ष प्रकट हो गया। बस, अपनी शर्तके अनुसार वह तत्काल वहाँसे अन्तर्धान हो गयी।

मेषोंको गन्धर्वोंसे छीन विजयोल्लासके बीच अपनी प्रेयसी उर्वशीके वदनपर हर्षकी रेखा देखनेके उत्साहसे जब महाराज उन्हें लेकर शयनागारमें पहुँचे तो वहाँ पड़ी सूनी सेजने विकट हास्यसे उनका अभिनन्दन किया। स्वर्गसुन्दरीके वियोगसे मानव-सम्राट् विकल हो उठे।

– ४ –

महाराज पुरूरवा अब प्रकृतिस्थ न रहे, प्रेयसीकी खोजमें वे वन-वनकी खाक छानने लगे। चलते-चलते वे कुरुदेशके क्षेत्रमें पहुँचे। वहाँ उन्हें एक सुन्दर जलाशय दीख पड़ा। निर्मल जलपर कमलके हरित पत्र और उनपर विकसित रक्त कमल अद्भुत सुषमा बिखेर रहे थे। उनमें श्वेतकाय पाँच हंसिनियाँ जलक्रीड़ा कर रही थीं।

महाराज पुरूरवाने उनके बीच अपनी प्रेयसी उर्वशीको पहचान लिया। प्रेमके लिए बाह्य आवरणका कोई प्रतिबन्ध नहीं रहता।

उर्वशीको भी अपने प्रियतम पुरूरवाको पहचानते देर न लगी। दोनोंके हृदय संवादके रूपमें फूट पड़े, जिन्हें भारतके अमर वाङ्मय ऋग्वेदने १०म मण्डलके ९५वें सूक्तके रूपमें अपने अन्तरमें ग्रथित कर लिया है।

पुरूरवाने कहा : 'हे जाये कठोरहृदये, जरा ठहरो तो, ध्यान देकर सुनो। थोड़ी बातचीत तो हो जाने दो। बहुत दिनोंसे बन्द पड़ी है वह। हम लोग जो बातचीत करते, बड़ी सुखकर हुआ करती थी वह !'

उर्वशीने कहा : 'पुरूरवा ! बातचीतसे क्या लाभ ? अब मैं तुम्हें मिलनेवाली तो हूँ नहीं। सीधे घर लौट जाओ। मेरी गति तो पवन-सी दुष्प्राप्य है।'

पुरूरवा : 'तुम तो मेरी प्रेरणा हो, ठीक बाण-जैसी। तुम्हारे बिना मेरे संग्राम विजयी ही नहीं होते।'

उर्वशी : 'ठीक ही कह रहे हो। मैं तुम्हारे घर रही तो तुमने मुझे दिन-रात बहलाया। तुम्हारा वह मिलन मुझे सदैव स्मरण रहेगा। क्या था वह आनन्द !'

पुरूरवा : 'क्या कहूँ, तुम और तुम्हारी सहेलियाँ बड़ी ही कोमल रहीं। बिजलियोंके समान, गायोंके समान—हमारी तो तुम सब असीम शोभा थीं !'

उर्वशी : 'वाह पुरूरवा ! तुम्हारा वह पराक्रम ! देवोंने भी तुम्हें अनेक बधाइयाँ दीं। मैं बार-बार उन दिनोंको स्मरण करती हूँ। कैसा था वह परम रमणीय और आकर्षक प्रसंग !'

पुरूरवा : 'सचमुच, कैसा था वह स्वर्ण अवसर ! तुम तो रही अमानुषी दिव्य अप्सरा और मैं एक मानव ! तुम्हारे साथका वह प्रसंग सचमुच अद्भुत था। मरणशील मानव अमर अप्सराओंका सेवन करे, इसमें किसकी और कैसी शोभा है, कहा नहीं जा सकता। उर्वशी, तुम तो बिजली-सी, जल-लहरियों-सी मेरी कामनाएँ पूर्ण करती रहतीं, पर क्या वे पूर्ण रहीं ?'

उर्वशी : 'अहो पुरूरवा ! मैं तो जान चुकी तुम्हारा पराक्रम और तुम्हारा ओज ! अधिक क्या कहूँ, चाहती थी कि सदा तुम्हारी बनी रहूँ—पर क्या बनी रही ?'

पुरूरवा : 'प्रिये, मैं उस दिनकी प्रतीक्षामें हूँ, जब मेरा पुत्र तुम्हारी गोद भरेगा और अपनी मन्द मुस्कानसे तुम्हारे घरको आलोकित कर देगा।'

उर्वशी : 'तुम उसके लिए चिन्तित न हो। मैं देख लूँगी। मेरी आशा छोड़ो और घर लौट जाओ। भला बिजलीकी चमककी भी कोई आशा की जाती है ?'

उर्वशीके ये शब्द सुन महाराज पुरूरवाको गहरी ठेस लगी। वे कहने लगे : 'नहीं प्रिये, अब तो पुरूरवा वापस नहीं जायगा। चाहे मेघ गिर पड़े या मृत्युकी गोदमें बैठ जाऊँ या आ जाय वृक और मुझे निगल जाय।'

उर्वशी सकपकायी। उसे अन्तरसे क्लेश हुआ। वह बोली : 'पुरूरवा, इस तरह आत्महत्या वीरोंका काम नहीं। आत्महन्ताके लिए कोई भी गति नहीं होती। तुम्हारा प्रेम जो मुझे मिला, मैं उसका सदैव आदर करती हूँ। पर तुम ठहरे मर्त्य और मैं अमर्त्य, दोनोंका चिरसंयोग कैसे बना रह सकता है ? इसलिए भूलकर भी ऐसा अविचार न लाओ। ध्यान रखो, स्त्रियोंके संसारमें सख्य नामकी वस्तु नहीं होती। उनका हृदय साल, और वृकोंका हुआ करता है।'

आगे उपाय बताते हुए उर्वशीने कहा : 'महाराज, आपकी यह अवस्था देख मुझे तरस आ रहा है। स्मरण कीजिये अपने गौरव को, शौर्य-वीर्यको। आपने प्रजाके लिए, देवोंके लिए कितना कष्ट उठाया है। इस तरह मुझ जैसीके लिए अपना बहुमूल्य जीवन भूलकर न खोयें। फिर भी यदि आप मुझे पाना ही चाहते हैं तो गन्धर्वोंको प्रसन्न करें। उनका यजन करें और गन्धर्वलोक प्राप्त करें। वहाँ आप मेरे साथ आनन्द भोग सकेंगे।'

यह कहकर सभी हंसिनियाँ लुप्त हो गयीं।

× × ×

महाराज पुरूरवा अब और भी उतावले हो उठे। उन्हें कुछ समझमें नहीं आ रहा था।

उधरसे गन्धर्वराज चित्ररथ जा रहे थे। महाराजकी यह दशा देख उन्हें दया आ गयी। उर्वशीके प्रति उनका निश्छल प्रेम, उसके वाक्प्रहार सहकर भी उस प्रेमकी अखण्डता, गन्धर्वों द्वारा उनके

प्रेमका यह भंग और ऐसे विश्वकल्याणकारी राजाकी यह मरणासन्न अवस्था—सबका विचारकर चित्ररथने सोचा कि अब कोई उपाय कर इस अनर्थको रोकना ही पड़ेगा।

वे महाराजके सामने खड़े हो गये। बोले : 'राजन्, इतना शोक क्यों करते हैं? लीजिये यह अग्निस्थाली और कीजिये तपस्या और यज्ञ! सब कुछ ठीक हो जायगा।'

महाराजको चित्ररथकी सलाह पसन्द पड़ी और अग्निस्थाली ले वे राजधानीकी ओर लौटने लगे।

बीचमें उन्हें पुनः कुछ वैराग्य-सा हो गया, सोचने लगे—सामने रहकर भी उर्वशी वश न हुई तो इस यज्ञानुष्ठानसे क्या होगा? फल-स्वरूप वे अग्निस्थालीको जंगलमें छोड़ घर चले आये।

घर आनेपर उन्हें पश्चात्ताप हुआ कि व्यर्थ ही मैंने आवेशमें आकर अग्निस्थाली छोड़ दी और उस गन्धर्वके परीक्षित उपायसे हाथ धो लिया।

प्रातःकाल होते ही महाराज पुनः उसी जंगलमें पहुँचे जहाँ अग्नि-स्थाली छोड़ आये थे। पर वहाँ अग्नि शान्त हो गयी थी। उस स्थान पर पीपल और शमीके वृक्ष लहलहाते दीखे।

महाराजने उन्हींकी शाखाएँ तोड़ीं और घर ले आये। उनकी अरणि बनाकर मन्थन किया तो अग्निदेवका प्राकट्य हो गया। उन्होंने उसी एक अग्निको यज्ञके लिए अन्वाधान करके तीन रूपोंमें विभक्त कर दिया—आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि।

फिर उन अग्नियोंको लेकर महाराज पुरूरवाने विधिवत् यज्ञ किया। यज्ञके फलस्वरूप उन्हें गन्धर्वलोक प्राप्त हुआ, जहाँ उनका पुनः उर्वशीके मधुमय मिलनका चिर-मनोरथ पूर्ण हुआ।

महाराज पुरूरवाने जीवन भर जो इतना कष्ट उठाया, तप किया, उसीके सुफल रूपमें उनके द्वारा यज्ञके लिए त्रेता अग्निका विश्वको लाभ हुआ। इसीलिए नीतिकार कहते हैं : कष्टाज्जातु न भेतव्यम्।

कथाके आधिदैविक और आध्यात्मिक रहस्य

पुरूरवा-उर्वशीकी उपर्युक्त कथा आधिभौतिक दृष्टिसे बतायी गयी। किन्तु इसके आधिदैविक और आध्यात्मिक भी तात्पर्य लगाये जा सकते हैं।

आधिदैविक भाव यह कि पुरूरवा है मेघ और उर्वशी है विजली तथा दोनों मेष हैं मेषराशिस्थ सूर्यके दोनों पक्ष। पुरू महान् रव = शब्दवाला मेघ होता है और विद्युत् विशेष चमकती है (उरु + अश्यते)। मेघ जब अपनी आवरणशक्तिसे युक्त संभृतजल रहता है तभीतक विजलीका उसके साथ सहयोग होता है। मेघकी आवरण शक्ति नष्ट होने और उसे नग्न सफेद निरावरण देखनेपर विजली उसके पाससे भाग जाती है। मेषराशिगत सूर्यमें कभी-कभी वर्षा-विजलीका योग देखा जाता है। पर मेषके चले जाते ही वृष आनेके साथ बिजली फिर कभी नहीं चमकती। इस प्रकार इससे एक आधिदैविक भाव सूचित होता है।

आध्यात्मिक दृष्टिसे देखें तो पुरूरवा है ब्रह्म और उर्वशी है बुद्धि-वृत्ति। जबतक ब्रह्म सावरण रहता है, तभीतक बुद्धिवृत्ति उसके साथ रहती है। ब्रह्मके निरावरण, नग्न होते ही बुद्धिवृत्तिका पता नहीं चलता। वह लुप्त हो जाती है। उसके मेष हैं काम और क्रोध जो संघर्षके प्रतीक हैं। उनके रहनेपर ही बुद्धिवृत्ति रहती है। निरा-वरण ब्रह्मकी स्थितिमें (ब्रह्मसाक्षात्कार होनेपर) वे दोनों भी नहीं रहते तो बुद्धिवृत्तिरूपा उर्वशी कहाँ रहेगी ? यही इस कथाका आध्यात्मिक रहस्य है।

कथासूचक ऋचाएँ

> सुदेवो अद्य प्रपतेदनावृत्परावतं परमां गन्तवा उ।
> अधा शयीत निर्ऋतेरुपस्थेऽधैनं वृका रभसासो अद्युः ॥[1]
>
> (ऋ० १०.९५.१४)

अर्थ : (पुरूरवा अत्यन्त खिन्न हो त्रिष्टुप् छन्दमें उर्वशीसे कहता है:) तुम्हारे साथ विविध क्रीडाएँ करनेवाला तुम्हारा यह पति

---

१. तत्र पुरूरवास्त्रिष्टुभा उर्वशीं परिदूनो वदति। सुदेवः त्वया सह सुक्रीडः पतिरद्य प्रपतेत् अत्रैव प्रपततु। अथवा अनावृत् अनावृतः सन् परमां परावतं दूरादपि दूरदेशं गन्तवै गन्तुं महाप्रस्थानगमनं कुर्यात्। अधा अथवा यत्र कुत्रापि गन्तुमसमर्थः सन् निर्ऋतेः पृथिव्याः उपस्थे शयीत शयनं कुर्यात्। यद्वा निर्ऋतिः पापदेवता तस्या उपस्थे उत्सङ्गे सन्निधौ म्रियतामित्यर्थः। अध अथवैनं वृका अरण्यश्वानो रभसासः वेगवन्तः अद्युः भक्षयन्तु।

यहीं गिर पड़े। अथवा अनावृत होता हुआ दूरसे दूर प्रदेशमें चला जाय—महाप्रस्थान करे, मर जाय अथवा कहीं चल-फिर न सके तो पृथिवी फटनेपर उसके भीतर ही समा जाय। किं वा पापदेवता यमराजकी गोदमें सो जाय। अथवा जंगली वृक आदि हिंस्र प्राणी आकर उसे निगल जायँ।

पुरूरवो मा मृथा मा प्रपप्तो मा वा वृकासो अशिवास उक्षन्।
न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता ॥[1]
(ऋ० १०.९५.१५)

अर्थ : (उत्तर में उर्वशी उसी छन्दमें कहती है :) हे पुरूरवा, तुम मरो मत। यहीं मत गिर पड़ो। तुम्हें अशुभ वृक भी न खा जायँ। ऐसा मत कहो। इस तरह हमें विवश क्यों कर रहे हो। देखो, स्त्रियों द्वारा मित्रता नहीं की जाती। उनके संसारमें सखित्व (मित्रत्व) वस्तु ही नहीं। उनके हृदय साल, वृक के समान होते हैं, जो विश्वास-पात्र वत्सादिकोंका भी घात करनेसे नहीं चूकते।

कथाके स्रोत

ऋग्वेद—१०.९५ (पूरा सूक्त)।
बृहद्देवता—७.१४७-५३।
वेदार्थदीपिका—सर्वानुक्रमणी-व्याख्या।

---

१. उत्तरयोर्वशी पुरूरवसं त्रिष्टुभाऽऽह—हे पुरूरवः त्वं मा मृथाः मृतिं मा प्राप्नुहि। तथा मा प्रपप्तः अत्रैव प्रपतनं मा कार्षीः। तथा त्वा त्वां अशिवासः अशुभाः वृकासः वृकाः मा उ क्षन्, उ एवार्थः। मैवाभ्यवहारयन्तु। किमित्येवम् अस्मदुपरि आग्रहं करोषि। मा कार्षीरित्यर्थः। अथ स्त्री-स्नेहस्य असारतामाह—स्त्रैणानि स्त्रीणां कृतानि सख्यानि सखित्वानि न वै सन्ति न सन्ति खलु। तत्कारणमाह—एता एतानि सख्यानि सालावृकाणां हृदयानि यथा वत्सादीनां विश्वासापन्नानां घातुकानि तद्वत्।

'मिट्टी केवल हँस रही थी'

एक दिन एकाएक बीज और वृक्ष लड़ पड़े। बीजका कहना था कि मैं वृक्षका पिता हूँ। वृक्षने सिर उठाकर और हाथ हिलाकर गर्जना की—'मैं तुम्हारे जैसे शत-शत बीजोंका पिता हूँ। थोड़ी देरके बाद दोनोंका आवेश शान्त हुआ। वृक्षने विनयसे झुककर कहा—'सचमुच मैं तुम्हारा पुत्र हूँ।'

बीजको भी समझ आयी—'मैं तुम्हारे अङ्ग-अङ्गके रससे उत्पन्न पुत्र हूँ।'

दोनों, दोनोंको अपना पिता मानकर एक दूसरेके चरण छूने लगे। बीचमें विज्ञान-संस्कारने अँगड़ाई ली। उसने कहा—'तुम दोनों मेरे अलग-अलग क्षणिक कण हो। पिता-पुत्रका, कार्य-कारणका सम्बन्ध मिथ्या प्रतीति है। कार्य और कारण दोनों निःस्वभाव हैं, सापेक्ष हैं, शून्य हैं।' इतना कहकर विज्ञान स्वयं शून्य हो गया।

मिट्टी केवल देख-देखकर हँस रही थी इनकी मूर्खतापर। ●

शून्य कौन ?

प्रश्न—क्या यह शून्य है ?

उत्तर—जो दीख रहा है, अस्ति-प्रत्ययका विषय हो रहा है, उसको शून्य मानना, जानना, कहना गलत है।

प्रश्न—तब क्या वह शून्य है ?

उत्तर—जिसको देखा ही नहीं उसको शून्य कहना कल्पना है।

प्रश्न—तब क्या तुम शून्य हो ?

उत्तर—मुझे शून्य कहते हो तो पूछते किससे हो। मुझे शून्य कहोगे तो मैं डण्डा मारकर अपना अस्तित्व बता दूँगा।

प्रश्न—फिर मैं ही शून्य हूँ क्या ?

उत्तर—अनुभव-विरुद्ध बोल रहे हो। क्या अपनी शून्यता तुमने देखी है।

प्रश्न—क्या सब शून्य है ?

उत्तर—शून्य कुछ नहीं है। जो ग्राह्य है वह ग्राहक-सापेक्ष है। जो ग्राहक है, वह ग्राह्य-सापेक्ष है। ग्राह्य अनिर्वचनीय है और तत्सापेक्ष ग्राहक भी अनिर्वचनीय है। ग्राहककी निरपेक्ष आत्मा सर्वावभासक, स्वयं प्रकाश; अद्वितीय अधिष्ठान ब्रह्म है। ●

शून्यवाद

डॉ० शान्ति भिक्षु शास्त्री

[संस्कृत विभागाध्यक्ष, विद्यालंकार, विश्वविद्यालय श्री लंका]

सबसे पहले बिना अध्ययनके जब मैंने बौद्ध-शास्त्रोंके शून्यवादका नाम सुना, तो मुझे बड़ा डर लगा। मेरे मनमें आया कि हाय! हाय! यह भी कोई दर्शन हो सकता है, जिसमें सबको शून्य कहा जाय। विविध प्रकारके वृक्ष, लतानिकुञ्ज, पत्र, पुष्प, फल, हरे-भरे खेत, उपवन, वाटिका, वापी, कूप, तड़ाग, गृह, भवन, कुटी, विहार, मन्दिर, नदी, वन, पर्वत, पशु, पक्षी, मृग, मनुष्य— इनसे अशून्य यह सारी सृष्टि दीख रही है। फिर सबको शून्य कहनेका क्या अर्थ है? मैं समझता हूँ कि शून्यवादी किसी निर्जल जंगलमें बन्दी बनाकर रक्खा गया होगा, वहीं मरुस्थल निवासके कारण मृग-तृष्णासे सम्मोहित हो गया होगा और उसीने शून्यवादका आविष्कार किया होगा। इसके बाद मैं तीव्र जिज्ञासासे प्रेरित होकर बौद्ध-शास्त्र पढ़ने और समझनेके प्रयत्नमें लगा। फिर तो मुझे ज्ञात हुआ कि सभी बौद्ध प्रायः शून्यवादी हैं। मैं, हम और मेरा, यह अपना और यह अपने सम्बन्धीका, आदि आत्म-पर्यायोंसे व्यवहार करते हुए भी वे कहते हैं कि यह सब आत्मशून्य है। ऐसा व्यवहार करनेमें किसी बौद्धको शंका नहीं होती। मुझे यह भी ज्ञात हुआ कि ये बौद्ध किसी मृग-तृष्णासे विमोहित नहीं हैं। इन्होंने तो प्राचीनकालमें प्रबल पराक्रम किया है। उपाख्यानोंमें सुना जाता है कि महावीर हनुमान्ने समुद्रका उल्लंघन करके लंकाकी यात्रा की थी, परन्तु आज लंकामें जाकर देखो तो वहाँ हनुमान्का नाम भी कोई नहीं जानता। जहाँ देखो वहाँ कषाय वस्त्रधारी शून्यवादियोंका ही नाम सुननेमें आता है। इन्होंने अतीतमें सुवर्णाक्षरोंमें लिखने योग्य इतिहासकी भारतमें सृष्टि की है। सुमेरुकी तलहटीसे लेकर हिन्द-महासागरकी चरम सीमातक सर्वत्र इन्होंने अपने यशकी ध्वजा फहरायी है। इन्होंने देश-

देशान्तरमें शाक्य मुनिके चरित्रके साथ ही साथ भारत-भूमिकी निर्मल महिमाका प्रतिष्ठापन किया है। इन बुद्धानुयायियोंने सम्पूर्ण जम्बुद्वीपमें अपनी बुद्धि और शील-बलसे धर्म-राज्यकी जैसी स्थापना की है, इतर धर्मावलम्वी शस्त्रबल, दण्डबल, प्रलोभन और महान् अर्थदानके द्वारा जनताकी प्रताड़ना करके भी वैसी धर्म-प्रतिष्ठा करनेमें समर्थ नहीं हुए हैं। हम लोग शब्द या अर्थसे शून्य दर्शनका जो रूप ग्रहण करते हैं, क्या उसके द्वारा ऐसे महावीर्य वीर कर्मका अनुष्ठान होना संभव है? कोई भी दर्शन जीवन-दानके विना, वीर कर्म किये विना, समाजका चरित्र उन्नयन किये विना क्या दर्शन पदवाच्य हो सकता है? चरित्रहीन, बलहीन, देश-कालविरोधी जीवन-दर्शनसे विमुख हो जाता है। सुना गया है कि प्राचीनकालमें जरा-जीर्ण भक्ति वृन्दावनमें आकर युवती हो गयी थी। जान पड़ता है कि इस प्रगतिशील युगमें इस विद्या-भूमिमें आकर विद्वानोंके आश्रयसे शून्यता भी शीघ्र तरुणी हो जायगी और तो क्या, ऐतिहासिक दृष्टिसे भी शून्यता-दर्शनके स्वाध्याय और अधिगममें हमें कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए; क्योंक यह दर्शन किन्हीं श्रेष्ठ भारत-भूमिके सपूतोंका परम प्रिय मत रहा है। उन्होंने भारत-जननीकी जैसी सेवा की, वैसी दूसरोंने नहीं की। वे प्रायः पैदल ही भूमण्डलपर पर्यटन करते थे। शीतोष्ण-बाधाकी ओर ध्यान नहीं देते थे। शास्त्र-ग्रन्थोंका प्रणयन करते थे। किसी स्वार्थसे नहीं, केवल करुणासे ही लोगोंको उपदेश करते थे। देश, कुल, जातिकी बेड़ी काटकर सबके हितके लिए विचरण करते थे। शस्त्रबल, दण्डबलके विना ही केवल आत्मबलसे ही धर्मका प्रचार करते थे। यदि आप लोग इसपर ध्यान नहीं देंगे तो मैं समझता हूँ कि आप भी शून्यवादके अभिप्रायका वैसे ही अभिनन्दन नहीं करेंगे, जैसे कि मैं पहले सोचा करता था और अभिनन्दन नहीं करता था। इस भूमिकामें स्वयं स्थित होकर आपको भी स्थापित करके पाँच शीर्षकोंमें मैं शून्यवादकी चर्चा करना चाहता हूँ।

१. शून्यवादकी परिभाषा

शून्यवादकी परिभाषा वस्तुतः जीवनकी ही परिभाषा है। मनुष्य-जीवनमें कारणपूर्वक कार्यकी उत्पत्ति देखकर जिस कार्यसे अपना प्रयोजन सिद्ध होता है, उसके कारणको ग्रहण करता है। आम, गेहूँ या धान प्राप्त करना हो तो वह अपने प्रयोजनके अनुसार ही बीज-वपन करता है। लोकमें सर्वत्र इसी नियमका अनुभव होता है और बौद्ध-शास्त्रोंमें भी इसीको स्वीकार किया

गया है। 'इसके होने पर यह होता है, 'इसके न होने पर यह नहीं होता है'—यह कार्य-कारण नियमका सूत्र है। बौद्ध-सिद्धान्तमें इसी नियमको 'प्रतीत्यसमुत्पाद' कहते हैं। आचार्य नागार्जुन आदिने इसी नियमको शून्यता कहा है। यह शब्द-संकेत सर्व-साधारणके व्यवहारमें सर्व-वस्तुका अभाव बोधित करता है। किन्तु दर्शन-शास्त्रमें यह प्रकट करता है कि लोगोंने व्यवहारमें वस्तुओंके जो-जो स्वभाव कल्पित कर रक्खें हैं, वह लोगोंके द्वारा स्वीकृत एवं कल्पित स्वभाव तात्त्विक नहीं हैं। तत्त्वचर्चामें उनकी वास्तविकताका प्रतिषेध ही अभीष्ट है। तत्त्ववादी लोक-व्यवहार-सिद्ध वस्तुओंको व्यवहार-कालमें स्वीकृति देता है; परन्तु लोकप्रसिद्ध स्वभावको पारमार्थिक स्वीकार नहीं करता। साधारण जनता और तत्त्ववादीके बीच इस भेदको छोड़कर दूसरा कोई नहीं है। पिता और पुत्रके उदाहरणसे थोड़ा विस्तार करके मैं यह बात कहता हूँ। 'पिता' कारण है और 'पुत्र' है कार्य। यही लौकिक सत्य है; परन्तु जिसे 'पिता' कहते हैं वह कोई ध्रुव पिता नहीं है, किसीका पुत्र है। जो पुत्र है वह भी कोई ध्रुव पुत्र नहीं, किसीका पिता है। इस प्रकार पिता और पुत्रका व्यवहार सापेक्ष है। पुत्र-निरपेक्ष कोई पिता नहीं है और पितृ-निरपेक्ष कोई पुत्र नहीं है। इस प्रकार लोक-दृष्टिसे जो-जो वस्तु कारणवर्ग या कार्यवर्गमें डाल दी जाती है, सबकी यही दशा है। कारण-वस्तु कार्य-वस्तुसे सर्वथा स्वतन्त्र नहीं होती और कार्य वस्तु कारण-वस्तुसे सर्वथा स्वतन्त्र नहीं होती। दोनों ही दोनोंसे पृथग्भूत एवं निरपेक्ष नहीं होते; अर्थात् कार्य-सापेक्ष ही कारण और कारण-सापेक्ष ही कार्य होता है। कारणके कार्य सापेक्ष होनेसे व्यवहारके अतिरिक्त कोई स्वाभाविक कारण नहीं है। इस प्रकार कार्यके कारण-सापेक्ष होनेसे व्यवहारके सिवा कोई स्वाभाविक कार्य भी नहीं है; परन्तु व्यवहार-कालमें इन बातोंपर किसीका ध्यान नहीं जाता। व्यवहारकालमें जो कार्य और कारणकी स्वाभाविक स्थिति स्वतन्त्र रूपसे स्वीकार की जाती है, वह लोक-दृष्टिसे अशून्यता है। यह अशून्यता स्वाभाविक नहीं है—यह कहनेके लिए ही तत्त्ववादी उसके विपरीत 'शून्यता' शब्दका प्रयोग करते हैं। मध्यमक शास्त्रमें और 'विग्रह-व्यावर्तिनी'में भी संक्षेपमें यह प्रसंग है। इस संक्षेप एवं विस्तारसे विचार करनेका सारांश यह है कि लोक-दृष्टि-सिद्ध कार्य-कारणभाव निरपेक्ष नहीं, सापेक्ष ही है। जो-जो सापेक्ष होता है उसका कोई

ध्रुव स्वभाव नहीं होता। स्वभावमें ध्रुवता न होनेसे ही—वह निःस्वभाव होनेसे ही उसका नाम शून्यता रखा गया है। अभावरूप होनेके कारण उसको शून्यता नहीं कहते। जो कुछ मैंने कहा है वह शून्यवाद परमेश्वरके तात्पर्यानुसार ही है। महामति आचार्यने कहा है कि यदि स्वभावसे ही भाव होते तो प्रत्याख्यान कर देने पर भी हेतु प्रत्यय बन जाते, परन्तु ऐसा नहीं होता। इसलिए सभी भाव निःस्वभाव हैं। निःस्वभाव होनेसे ही वे शून्यके नामसे कहे जाते हैं। इस विषयमें कारिका भी है। भावोंका प्रतीत होकर होना शून्यता कही गयी है। जो भाव प्रतीत होता है वह निःस्वभाव होता है।*

शून्यताकी यह परिभाषा भयभीत नहीं करती, भ्रम नहीं बढ़ाती, व्यवहारका लोप नहीं करती और न तो तत्त्वचिन्तनमें कोई बाधा ही डालती है। लोक-प्रसिद्ध परस्पर निरपेक्ष कार्य-कारण व्यवहारका आश्रय लेकर ही क्रम-क्रमसे तत्त्वचर्चा-के द्वारा समीचीन पथपर चलना चाहिए। आचार्यने ऐसी ही पद्धति बनायी है। आचार्य कोई अदृष्टपूर्व अथवा अबुद्धिगोचर वस्तुको सामने रखकर तत्त्वचर्चा प्रवृत्त नहीं करना चाहते, प्रत्युत् विद्वत्समादरणीय व्यवहारमें पामरके द्वारा भी सत्करणीय, सर्वजनप्रसिद्ध कार्य-कारणभाव को लेकर ही प्रतिष्ठित तत्त्वचिंता मार्गमें प्रवृत्त करना चाहते हैं। विद्वानोंके सम्मुख अधिक कहनेका क्या प्रयोजन कार्यकारणभावका सापेक्ष होना ही शून्यता है। यही तत्त्वचिन्तनकी वह पद्धति है जिसपर चलनेवालोंके द्वारा दर्शनकी प्रवृत्ति की जाती है।

२. पदार्थोंके विषयमें शून्यवाद

लोक-व्यवहारमें बहुतस पदार्थ हैं। उनका प्रायः कार्य-कारण वर्गमें समावेश हो जाता है। दूसरे, बहुतसे पदार्थ हैं जो शास्त्रमें प्रसिद्ध हैं, उनकी संख्या बहुत है, तथापि वे शास्त्रमें व्यवहृत प्रमाण-प्रमेयके विभागसे अतिरिक्त नहीं हैं। शून्यवाद की रीतिसे कार्य-कारण-वर्गका विचार किया जा चुका है। सम्प्रति, प्रमाण-प्रमेयका विचार करना है। प्रमाण-प्रमेयकी जिस-जिस शास्त्रमें जैसी-जैसी संख्या मानी गयी है, वैसी-वैसी रहे। उसपर शून्यवादका कोई आक्षेप नहीं है। शून्यवादका सिद्धान्त तो यह है कि वे कथमपि निरपेक्ष सिद्ध नहीं होते। उदाहरणके

---

* यश्च प्रतीत्यभावो भावानां
शून्यतेति सा ह्युक्ता।
प्रतीत्य यश्च भावो भवति हि
तस्यास्वभावत्वम्॥
—विग्रहव्यावर्तिनी, २२ कारिका।

लिए, प्रमाण एक साधन है। वह स्वतःसिद्ध नहीं होता। किसी वस्तुको सिद्ध करनेके कारण ही वह साधन है। इस प्रकार साधन साध्यवस्तुके परतन्त्र ही हो सकता है। साधन कभी स्वतन्त्र नहीं हो सकता। साध्यपरतन्त्र, साधन प्रमेयपरतन्त्र, प्रमाण स्वतन्त्र साधन अथवा प्रमाण संज्ञाके अधिकारी नहीं हैं, उनको स्वतन्त्र मानना प्रामादिक व्यवहार है। साध्यवस्तु ही साधनको साधनके नामसे सिद्ध करती है और उसके नामको सार्थक बनाती है। जो अपनी सिद्धिके लिए परमुखापेक्षी है, उसको स्वतन्त्र कैसे माना जा सकता है?

इस प्रकार साधन नामकी कोई निरपेक्ष वस्तु नहीं है, जिसको युक्तिकुशल पुरुष प्रमाण कहें। प्रेक्षावान् पुरुषोंकी सभामें इन्द्रियोंको ही साधन कहा जाता है। लोक-व्यवहारमें वे ऐकान्तिक साधन नहीं हैं। जब दो प्रेमी परस्पर चार आँख देखते होते हैं, तब उनके नेत्र साध्य और साधन दोनों ही होते हैं। इसीसे विद्वान् पुरुष प्रमाण-प्रमेयको निरपेक्ष स्वीकार नहीं करते।

वात्स्यायनने कहा है कि उपलब्धिका साधन होनेके कारण प्रत्यक्षादि प्रमाण हैं, परन्तु वे ही उपलब्धिके विषय होनेके कारण प्रमेय भी हैं। उपलब्धिका साधन होनेके कारण बुद्धि प्रमाण है। साथ ही, उपलब्धिका विषय होनेके कारण प्रमेय भी है (न्यायसूत्र वात्स्यायन भाष्य २।१।१६)। मैं शून्यवाद के अनुकूल वात्स्यायनके सुभाषितका अनुमोदन करता हूँ। शून्यवादमें कोई भी पदार्थ स्वतन्त्र, निरपेक्ष, स्थिर और ध्रुव नहीं है, जिसको स्वतन्त्रता, निरपेक्षता, स्थिरता और ध्रुवताका आग्रह नहीं है वही शून्यताको समझता है और वही शून्यवादी है। जिस युक्तिवादीके हृदयमें प्रमाण अथवा प्रमेयोंके सम्बन्धमें निरपेक्षता, स्वतन्त्रता, स्थिरता और ध्रुवताका आग्रह होता है, उसके लिए आचार्यकी यह रुचिर आर्या ध्यान देने योग्य है—

अथ ते प्रमाणसिद्धया प्रमेय-
सिद्धिः प्रमेय-सिद्धया च।
भवति प्रमाणसिद्धिः,
नास्त्युभयस्यापि ते सिद्धिः॥
(वि० व्या० ४७)

यदि तुम्हारे मतमें प्रमाणकी सिद्धिसे प्रमेयकी सिद्धि होती है और प्रमेयकी सिद्धिसे प्रमाणकी सिद्धि होती है, तो तुम्हारे मतमें दोनोंकी ही सिद्धि नहीं हो सकती।

अपनेसे भिन्न प्रमाणके द्वारा जिस प्रमेयकी सिद्धि होती है, वह स्वतःसिद्ध नहीं है। भला इस बातको कौन स्वीकार नहीं करेगा? अपनेसे भिन्न प्रमेयके द्वारा जिसको अपना नाम मिला है, वह प्रमाण

स्वतः प्रमाण नहीं है, इस बातमें भला, किसका मतभेद हो सकता है ? शून्यवादमें प्रमाण-प्रमेयका व्यवहार सापेक्षरूपमें ही स्वीकृत है। जिस-जिस अवस्थामें व्यावहारिक रूपसे जो-जो वस्तु प्रमाण या प्रमेय होती है, उसको व्यवहारके अनुरूप स्वीकार करनेपर भी जो उसकी निःस्वभावता है, उसे ही शून्यता कहते हैं। विग्रह-व्यावर्तनीकी २८ वीं कारिकामें कहा गया है कि हम व्यवहार-सत्यका निषेध करके अथवा उसको अस्वीकार करके यह नहीं कहते कि सब पदार्थ शून्य हैं। लोकमें व्यवहारानुरूप जिन पदार्थोंकी सस्वभाव माना जाता है, उनकी निःस्वभावताका प्रतिपादन ही शून्यवाद है। यह निःस्वभावताका प्रतिपादन केवल प्रतिज्ञा-वचन नहीं है। वस्तुतः प्रतीत्यसमुत्पन्न होनेके कारण सब पदार्थ स्वभावहीन हैं ही। यही बात विग्रह-व्यावर्तनीकी २२ वीं कारिकामें कही गयी है। प्रतीत्यसमुत्पन्न भाव सस्वभाव नहीं होते। यदि वे स्वभावतः होते तो उनका प्रत्याख्यान कर देनेपर भी हेतु-प्रत्यय होते।

३. सर्वशून्यता

सम्पूर्ण लोक-व्यवहारको आत्म-शून्य देखनेवाले सभी बौद्ध शून्यवादी ही हैं; तथापि उनमें थोड़ा-थोड़ा वितर्क और विचारका भेद होनेसे अनेक सम्प्रदाय बन गये हैं। उनमें परस्पर स्वल्पतम भेद है। ऐसा होनेपर भी उनके परिचयके बिना शून्यताका समग्र बोध नहीं हो सकता। बौद्धमतमें यह जो कहा जाता है कि सर्व आत्मशून्य है, वहाँ सर्व शब्दका अर्थ भूत-भौतिक तथा चित्त-चैत्त है। सम्पूर्ण बाह्य तत्त्व भूत-भौतिक है और सम्पूर्ण अबाह्य तत्त्व चित्त-चैत्त है। बाह्य और

यों भी वाह-वा है और यों भी वाह-वा !

किसीने महात्मासे कहा : महाराज ! अब हम आपके पास कभी नहीं आयँगे।

महात्मा : चलो, जंजाल कटा ! न अब तुम संसारकी चर्चा करोगे और न हमारा समय नष्ट होगा। अब हम और अन्तर्मुख होंगे। शान्तिमें विराजेंगे। मौज को कटेगी।

किसीने कहा : महाराज, आपका सत्संग करने आऊँ ?

वे बोले : आओ भाई ! अकेले बैठकर परमार्थ चिन्तन करता हूँ। दोसे चर्चा होगी। दोनोंका लाभ होगा।

खूब गुजरेगी जब मिल बैठेंगे दीवाने दो।

अवाह्य दोनों ही तत्त्व हैं तथा दोनोंका ज्ञान भी तत्त्वतः है। दोनोंमें कुछ ज्ञान है, कुछ ज्ञेय है। जो वाह्य ज्ञेय है, वह परमाणु-पुञ्ज है, कोई एक वस्तु नहीं है। भूत-भौतिक और चित्त-चैत्त धर्म वहुत-से हैं। जब उनकी पाँच राशि वना देते हैं, तव उन्हें पञ्चस्कन्ध कहते हैं। सव भूत-भौतिक 'रूप-स्कन्ध' है। चित्त 'विज्ञान-स्कन्ध' है। चैत्तोंमें सुख, दुःख, उपेक्षारूप वेदनाओंके समूहको 'वेदना-स्कन्ध' कहते हैं। विपयगत दृश्य, अदृश्य लक्षणोंके वोध समूहको 'संज्ञा-स्कन्ध' कहते हैं। वौद्ध-तर्कमें स्वलक्षण, सामान्य लक्षण और सम्यक् ज्ञानोंका यही अर्थ विस्तारके साथ वर्णित होता है। रूप, चित्त और चैत्त धर्मोंमें रहनेवाले होनेपर भी जिन चित्तवृत्तियों एवं जाति, जरा, स्थिति अनित्यता आदि धर्मोंका उनसे पृथक् रूपमें वर्णन किया जाता है. उन्हें 'संस्कार-स्कन्ध' कहते हैं। यह सभी धर्म निरन्तर प्रतीत्य-समुत्पाद नियमके अनुसार क्षण-क्षणमें वदलते रहते हैं, तथापि रहते हैं। इसीसे अतीत, अनागत एवं प्रत्युत्पन्न रूप और चित्तका व्यवहार होता है। इन सभी धर्मोंका चाहे वे भूत-भौतिक हों, चाहे चित्त-चैत्त, प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। ये सभी ज्ञानवर्ग या ज्ञेयवर्गके अन्तर्गत रहकर आत्म-शून्य ही होते हैं। जैसा कि अभिधर्म कोषमें कहा गया है—'स्कन्धमात्र ही है, आत्मा नहीं।' यह वैभाषिकों का मत है। विभाषा ज्ञान प्रस्थान-शास्त्रकी टीका है। उसके अनु-यायीको वैभाषिक कहते हैं। महा-मति वसु वन्धुने उसीके आधारपर अभिधर्म - कोषकी रचना की है। उसीमें इसका विस्तारसे वर्णन है।

ज्ञान प्रस्थान विभाषाके अनु-यायियोंसे पृथक् धर्म विचयपरक अर्थ-विनिश्चय आदि सूत्रोंको प्रमाण-रूपसे स्वीकार करनेवाले सौत्रा-न्तिक हैं। आचार और प्रामाण्यमें भेद होनेपर भी तत्त्ववादमें वे वैभाषिकोंके समान ही हैं। इनके मतमें भी ज्ञान-ज्ञेय पदार्थ प्रतीत्य-समुत्पन्न क्षणिक त्रिकालमें व्यवहारके योग्य हैं। वाह्यार्थ हैं परमाणु-पुञ्ज। वैभाषिक चित्त, चैत्तका जैसा प्रत्यक्ष मानते हैं, वैसा ये भी; परन्तु भूत-भौतिक पदार्थोंके प्रत्यक्ष विपयमें इनका मत-भेद है। ये कहते हैं कि वाह्य विषयोंका चित्तमें जो आकार या प्रतिविम्ब प्रतिफलित होता है, केवल उसीका उतना ही प्रत्यक्ष हमें होता है, उससे अधिक नहीं। ऐसा होनेपर भी ये वाह्य विषयका प्रत्याख्यान अथवा अप-लाप नहीं करते। वाह्य विपयको तो स्वीकार ही करते हैं। इस वाह्य विपय-स्वीकृतिका कारण है। वह

यह है कि चित्त अथवा ज्ञानमें जो प्रतिबिम्ब या आकार प्रतिफलित होता है, वह सर्वदा प्रतिफलित नहीं होता; प्रत्युत् कभी-कभी ही प्रतिफलित होता है। जब प्रतिफलित होता है तब उसकी कारण-भूत जो वस्तु है, उसीको बाह्य अर्थ कहते हैं। ऐसे अर्थका साक्षात् ग्रहण नहीं होता। उसका आकार प्रत्यक्षसे अनुमान-मात्र ही होता है। इसलिए वह आकार ज्ञानका बाह्यार्थके कारण परिणाम है। स्वयं बाह्यार्थ जड़ है, अज्ञान रूप है, और ज्ञानसे पृथक् ही है। उसका ज्ञानके साथ कोई तादात्म्य नहीं है और यह जो आकारका प्रतिभास है वह कथमपि बाह्यार्थ नहीं है। इस प्रकार सौत्रान्तिकोंके मतमें ज्ञान और ज्ञेयका जो एक अंश ज्ञान है, वह प्रत्यक्ष है। ज्ञानके जो विशेष परिणाम हैं चैत्त, वे भी प्रत्यक्ष हैं। बाह्य विषयके कारण जो साकार ज्ञानके परिणाम हैं, वे भी प्रत्प्रक्ष हैं। परन्तु बाह्य विषय प्रत्यक्ष नहीं हैं, वे प्रत्यक्ष प्रतिभासके जनक होनेसे केवल अनुमेय हैं।

ये वैभाषिक और सौत्रान्तिक दोनों ही सर्वास्तिवादी कहे जाते हैं। ज्ञान-ज्ञेय रूप सभी धर्म आत्मशून्य हैं और प्रतीत्य समुत्पन्न होनेके कारण तीनों काल और विविध अवस्थाओंमें संसरणरूपमें रहते हैं। यह दोनोंका मत है। दोनोंके मतसे बाह्य विषयको प्रतीक्षा करके जो ज्ञानाकार होता है, उससे सर्वथा पृथक् ही बाह्य विषय होता है; परन्तु वैभाषिकोंका कहना है कि बाह्य विषयका प्रत्यक्ष होता है और सौत्रान्तिकोंका कहना है कि केवल अनुमान ही होता है। ज्ञानाकारसे पृथक् बाह्यार्थको स्वीकार करनेके कारण ये दोनों बाह्यार्थ-वादी हैं।

योगाचार मतका कहना है कि बाह्य अर्थ स्वप्न-दृष्ट अर्थके समान मनोविजृम्भण मात्र है। वस्तुत: विज्ञानमात्र ही तत्त्व है। इसलिए ज्ञानाकारसे बाह्य वस्तु पृथक् है— यह कल्पना द्वैत-भ्रम उत्पन्न करती है, इसलिए त्याज्य है। एक ही तत्त्व चित्त, ज्ञान, विज्ञप्ति, विज्ञान, मन आदि पर्यायवाची शब्दोंके द्वारा भिन्न-भिन्न नामसे कहा जाता है। इसी तत्त्वकी दो अवस्थाएँ हैं— ज्ञान और ज्ञेय। ज्ञान ग्राहक है, ज्ञेय ग्राह्य है। ज्ञानकी जो ग्राह्यावस्था है उसीके एक देशको बाह्य विषय कहते हैं। लोक-व्यवहारमें साधारण जन, प्रतिपक्षी प्राश्निक, सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक बाह्यार्थको ज्ञानसे पृथक् स्वीकार करते हैं; परन्तु वैसा सर्वथा नहीं है। यही योगाचार-मत है। जैसा कि 'विंशतिका-विज्ञप्ति-मात्रता-सिद्धि' की पहली कारिकामें कहा गया है—'असत् अर्थका प्रकाश

होनेसे सब कुछ विज्ञप्तिमात्र ही है।' आयुर्वेद-शास्त्रमें भी यह प्रसिद्ध है कि तिमिररोगी कदाचित् अभूत वस्तुको भी देखता है। (देखिये, अष्टाङ्गहृदय—उत्तर स्थान १२ वाँ अध्याय)।

तत्त्वचर्चामें परिश्रम करनेवाले इन वादियोंको विश्राम देनेके लिए शून्यवादी कहता है कि तुम लोग जो कुछ वर्णन कर रहे हो—वह सब ज्ञान ही है, परन्तु ज्ञान ज्ञेय-निरपेक्ष नहीं होता। निर्विषय ज्ञानकी कल्पना स्वप्नमें भी नहीं है; जागरणकी तो बात ही क्या? इसलिए ज्ञान और ज्ञेय दोनों परस्पर सापेक्ष तत्त्व हैं। ये दोनों न निरपेक्ष हैं और न तो स्वतन्त्र। ज्ञेयकी प्रतीतिसे ज्ञान होता है और ज्ञानकी प्रतीतिसे ज्ञेय होता है। अतएव विज्ञान-स्कन्ध भी स्वाभाविक नहीं है। यह सब कुछ जो कि प्रतीत्य समुत्पन्न है, निःस्वभाव होनेके कारण शून्य ही हैं। निश्चय ही विज्ञान-स्कन्ध भी शून्यतासे बहिर्भूत नहीं है।

अबतक जो बात कही है उसको संक्षेपमें कहा जा रहा है। भूत-भौतिक अथवा चित्त-चैत्तके रूपमें जो कुछ भी है उसको हम केवल दो शब्दोंमें कह सकते हैं—एक विज्ञप्ति और दूसरा आलम्बन। यहाँ विज्ञप्ति है और यहाँ आलम्बन है—यह लौकिक अनुभूति है। वैभाषिक और सौत्रान्तिक अपने दर्शनमें इसीको स्वीकार करते हैं। जन साधारणकी अपेक्षा इनकी विशेषता यही है कि ये विज्ञप्ति और आलम्बन दोनोंको आत्मशून्य मानते हैं। वैभाषिकके मतमें आलम्बनकी प्रत्यक्षता और सौत्रान्तिकके मतमें अनुमेयताका जो भेद है, वह अत्यन्त स्वरूप है। योगाचारोंका कहना है कि स्वप्नवत् अथवा तिमिर-रोगवत् विज्ञप्ति निरालम्बन ही होती है। विज्ञप्ति भी आत्मशून्य है। शून्यवादियोंकी रीति यह है कि वे विज्ञप्ति और आलम्बन दोनोंके ही प्रतीत्यसमुत्पन्न होनेके कारण दोनोंको ही सर्वथा शून्य मानते हैं। इनका कहना है कि आत्मशून्यताको स्वीकार करना ही पर्याप्त नहीं है। शून्यवादीका आत्मसे प्रेम हो और अनात्मासे द्वेष हो—ऐसा नहीं है। वह केवल आत्माके निषेधके लिए बद्धपरिकर हो—ऐसी बात नहीं है। वह आत्मा और सब धर्मोंको ज्योंका-त्यों व्यवहारमें स्वीकार करके तत्त्वचर्चामें प्रवृत्त होता है। क्रमशः आत्मा और सब धर्मोंको भी अपने दर्शनमें शून्यतासे अनुगृहीत कर देता है, परन्तु लोक-व्यवहारमें अशून्यतासे व्यवहार करता है। उसका आदर सर्वशून्यतामें ही है, केवल आत्मशून्यतामें नहीं। इसलिए आत्मा और धर्म सब शून्य है। व्यवहारमें

वह किसीका निषेध नहीं करता। केवल निःस्वभावताका उपदेश करते समय वह सबका निषेध करता है। आदरणीय आर्यदेवने इस देशनाका चातुर्य इस प्रकार प्रकट किया है—पहले अपुण्यका निवारण करना, मध्यमें आत्माका निवारण करना, अन्तमें सबका निवारण करना। इस पद्धतिको जो जानता है वह बुद्धिमान् हैं।

वारणं प्रागपुण्यस्य
मध्ये वारणमात्मनः।
सर्वस्य वारणं पश्चाद्
यो जानीते स बुद्धिमान् ॥

४. स्वलक्षण एवं सामान्य लक्षण-विचार

प्रतीत्य-समुत्पादकी रीतिसे कार्य-कारण, प्रमाण-प्रमेय और ज्ञान-ज्ञेयकी निःस्वभावताका प्रतिपादन करके शून्यताकी सिद्धिका प्रकार बताया गया। अब बौद्ध तर्कशास्त्रमें ज्ञानके ही विषय दो प्रकारके, जो ज्ञेय-प्रसिद्ध हैं—स्वलक्षण और सामान्य लक्षण, उनका निरूपण किया जाता है। स्वलक्षण उन पदार्थोंको कहते हैं, जिसका हमारे मनोजल्प या वाग्विकल्पके साथ सर्वथा सम्पर्क नहीं है। वे ज्यों-के-त्यों अपने स्थानपर बने रहते हैं और उनके द्वारा जल लाना आदि कार्य सम्पन्न होता है, जैसे घट, पट आदि विषय। जो विषय मनोजल्प या वाग्विकल्पके आकारवाले हैं जो स्वरूपसे गृहीत होनेपर ही हमारे प्रयोजनको पूर्ण करनेके योग्य होते हैं, उन सब विषयोंका नाम सामान्य

काजलकी कोठरी

पूज्य महाराजश्री अपने बचपनकी बात बतलाते हैं—

बाल्यावस्थामें अपने साथियोंके साथ एक खेल खेला करता था। अपने गाँवके खपरैलवाले कच्चे मकानके दरवाजों आदिमें दीवालीके अवसरपर काला रंग तैयार करके पोता जाता था। गीला होनेपर वह लोगोंके कपड़ोंमें बहुधा लग जाया करता था। मैं अपने साथियोंसे कहता : 'आओ हम पचास बार इस दरवाजेके भीतर-बाहर आयें-जायें। जिसके कपड़ोंमें रंग लग जायगा, वह हार गया। जिसके न लगे, वह जीता।'

और पूज्यश्री कहते हैं कि उनके कपड़ोंमें एक बार भी रंग नहीं लगा।

यह गुणमयी सृष्टि काजलकी कोठरी है। इसमें असङ्ग होकर इस ढंगसे रहो कि गुण स्पर्श न करें, काजल न लगे।

लक्षण है। एक पदार्थमें भी स्वलक्षण और सामान्य लक्षणका व्यवहार होता है, जैसे कि जिस घटसे लोक-व्यवहारमें जलाहरण आदि कृत्य होता है, उसे स्वलक्षण कहते हैं और जिस घटको लेकर मनोराज्य, वार्तालाप या वादविवाद किया जाता है, उसे सामान्य लक्षण कहते हैं। प्रत्यक्ष-स्थलमें पहले स्वलक्षणका ग्रहण होता है, तदनन्तर उसके सम्बन्धमें अध्यवसाय या निश्चय होता है। अनुमान-स्थलमें पहले सामान्य लक्षणका ग्रहण होता है और तदनन्तर स्वलक्षणका अध्यवसाय होता है। इस प्रकार एक ही पदार्थ अवस्था-भेदसे कभी ग्राह्य होता है और कभी अध्यवसेय, निश्चय करने योग्य होता है। उदाहरणके लिए प्रत्यक्ष स्थलमें स्वलक्षणके रूपमें गृहीत अग्नि पहले क्षणमें ग्राह्य होता है, परन्तु क्षणान्तरोंमें सामान्यलक्षणके रूपसे अध्यवसाय होता है। अनुमान-स्थलमें सामान्य लक्षणसे गृहीत अग्नि प्रथम क्षणमें ग्राह्य होता है और दूसरे क्षणोंमें स्वलक्षणतया अध्यवसेय होता है। विस्तार करनेसे क्या प्रयोजन ? अभिप्राय यह है कि ग्रहण और अध्यवसाय दोनों परस्पर प्रतीत होकर ही होते हैं। सामान्यलक्षणका अध्यवसाय प्रतीत होकर ही स्वलक्षणका ग्रहण होता है और स्वलक्षणका अध्यवसाय प्रतीत होकर ही सामान्यलक्षण होता है। शून्यवादकी रीतिसे प्रतिपादनकी यही शैली है। प्रतीत्य-समुत्पन्न होनेके कारण दोनों ही शून्य हैं। इस प्रकार शून्यवादकी रीतिसे कोई भी पदार्थ ध्रुव, नियत अथवा निरपेक्ष नहीं है। सभी शून्य हैं।

५. शून्यवाद निर्विवाद

यह सापेक्षवाद-प्रतिपादक शून्यता सब तत्त्वोंका विवेचन करनेके लिए एक न्याय है, जैसे लोकव्यवहार तराजूके द्वारा वस्तुओंका गुरु, लघु भार तौला जाता है, वैसे ही तत्त्वचिन्तनके प्रसङ्गमें शून्यताके द्वारा दार्शनिक भावोंका गुरु-लघु-भाव निर्धारण करके उन्हें तौला जाता है। लोकव्यवहारके और प्रतिपक्षियोंके द्वारा सम्मत सब कुछ स्वीकार करके उसके बाद उनके अभिमत पदार्थ कार्य-कारण, प्रमाण-प्रमेय, ज्ञान-ज्ञेय, जन्म-मरण, संसार-निर्वाण आदिको निरपेक्ष रूपसे स्वीकार नहीं किया जाता, प्रत्युत वे सब सापेक्ष हैं—ऐसा प्रतिपादन किया जाता है। सब पदार्थोंको भिन्न-भिन्न देखनेवाले लौकिक जन एवं प्रतिपक्षियोंकी जो भेद-दृष्टि है, वह इसके द्वारा दूर की जाती है, द्वैत-बुद्धिको मिटा दिया जाता है। सापेक्षता प्रतिपादनके द्वारा अभेद-बुद्धिकी प्रतिष्ठा की जाती है और अद्वैत-बुद्धिमें परम आदर प्रकट किया

जाता है। स्व-परदृष्टि आदि सभी सापेक्ष दृष्टियोंके नष्ट हो जानेपर तत्त्व स्वयं ही प्रकाशित हो जाता है; जैसा कि कहा है—

शून्यता सर्वदृष्टीनां
प्रोक्ता निस्सरणं जिनैः।
येषां तु शून्यतादृष्टि-
स्तानसाध्यान् बभाषिरे॥

परमार्थदर्शी बुद्धोंने सर्वदृष्टियोंके निराकरणको ही शून्यता कहा है। जो लोग शून्यताको भी एक दृष्टि कहते हैं, उनका रोग अचिकित्स्य कहा गया है।

कोई-कोई तत्त्वचिन्तक इस जगत्को शून्य देखते हुए भी मोक्षकी तृष्णा रखते हैं। वे मोक्षकी विकल्पना करते हैं। उनका कहना है कि लोकमें अनित्य सुख है और मोक्षमें नित्य सुख है। लोकमें सीमित सुख है और मोक्षमें अमित सुख है, आदि। वीतराग पुरुषोंको ऐसी कल्पना नहीं हुआ करती। जो एक रुपयेके लिए कौड़ीका त्याग करता है, उसे वीतराग नहीं कहते। जिनका यह आग्रह है कि वासनाहीन होनेपर मुझे निर्वाणकी प्राप्ति होगी, वे सचमुच आग्रहरूप महाग्रहसे ग्रस्त हैं। परमाचार्योंने ऐसा ही कहा है। चाहे तत्त्वचिंताकी कोई भी विधा क्यों न हो, शून्यताके आधारपर उसे परस्पर सापेक्ष ही समझना चाहिए। हम जीवनमें परस्पर सापेक्ष हैं। फिर तत्त्वचिन्तनमें परस्पर सापेक्ष क्यों न हों? परस्पर भावना ही श्रेयस्कर है।

● ★ ●

अमिट रेखा

एक बार मैं अपने चार-पाँच मित्रोंके साथ ग्रीष्मकी झुलसती दोपहरीमें पाँच-छः मील पैदल चलकर एक महात्माका दर्शन करने गया। कुटिया छोटी-सी थी, इसलिए धूपमें बाहर ही खड़े रहे। महात्मा बोले : 'बाहर गर्मी है, भीतर आ जाओ। यहाँ ठण्ढा है।' थोड़ी देरमें हँसकर फिर बोले : बाहर गर्मी लगे तो भीतर आ जाना चाहिए। जब-जब विषयोंकी गरमी सताये झटसे अन्तर्मुख हो जाना चाहिए। सारा ताप, सारा विक्षेप, सारी वेदनाएँ समाप्त।

—पू० प्रा० महाराजश्री

श्रीरामानुज-दर्शन

श्रीनीलमेघाचार्यजी

[वैकुण्ठवासी श्री कृ० व० नीलमेघाचार्य, वैष्णव-वेदान्त-प्राध्यापक वाराणसेय संस्कृत-विश्वविद्यालयके द्वारा लिखित संस्कृत लेखके आधारपर]

• ✶ •

श्रीभाष्यकार श्री रामानुजाचार्य जी महाराजने ईश्वरके स्वरूपका इस प्रकार वर्णन किया है—'अखिल हेय-प्रत्यनीक कल्याणैकतान स्वेतर समस्त वस्तु-विलक्षण ज्ञानानन्दैकस्वरूप' इत्यादि। स्वयंप्रकाश होनेके कारण ईश्वर ज्ञानस्वरूप है। वह अपने लिए और दूसरोंके लिए भी अत्यन्त अनुकूल प्रतीत होनेके कारण आनन्दस्वरूप है। उसमें अखिल हेय अर्थात् सब प्रकारके त्याज्य पदार्थोंका अत्यन्ताभाव है, इसलिए अखिलहेय-प्रत्यनीक है। कुछ थोड़ेसे हेय दोषोंसे रहित तो अनेक सुलभ हैं, किन्तु अखिल हेय दोषोंसे रहित तो यह परमात्मा ही है। अचित् (जड़) में रहनेवाले विकार और चित् (जीव) में रहनेवाले दुःखादि रूप अपुरुषार्थ तथा अन्य कोई भी दोष इसमें नहीं हैं। शरणागतकी उपेक्षा आदि रूप दोष भी इसमें नहीं हैं। यह केवल हेय-प्रत्यनीक अर्थात् निर्दोष ही नहीं है, किन्तु अपने आश्रितोंके दोषोंका निवर्तक भी है। यह सम्पूर्ण कल्याण गुणोंका आश्रय होनेके कारण कल्याणैकतान कहा जाता है। संसारमें दूसरा कोई भी नित्य या अनित्य पदार्थ इस प्रकार अखिल-मङ्गलगुणयुक्त नहीं है। यह अपने आश्रितोंके अभीष्ट सर्वविध कल्याणके साधनमें तत्पर रहता है। इसलिए भी इसको कल्याणैकतान कहते हैं। जैसे राजाके असाधारण चिह्न हैं छत्र और चामर, वैसे ईश्वरके असाधारण चिह्न हैं सर्वदोष-राहित्य और कल्याणैकतानत्व। सत्यता, ज्ञानस्वरूपता, अनन्तता, आनन्दता और अमलता—ये सब ईश्वरके स्वरूपके बोधक धर्म हैं। इनके अतिरिक्त स्वरूपके विशेषण-भूत धर्म हैं।

ईश्वर सत्य है; क्योंकि वह अनिष्ट विकारोंका साक्षात् आश्रय नहीं है। ईश्वर ज्ञानस्वरूप है, क्योंकि वह स्वयंप्रकाश है तथा सर्वदा, सर्वविषयक ज्ञानवान् है। ईश्वर अनन्त है; क्योंकि देश-काल-वस्तु उसके परिच्छेदक नहीं है। सब देशमें रहनेके कारण देशसे, सब कालमें रहनेके कारण कालसे और सबका अन्तर्यामी एवं सबका

शरीरी होनेके कारण वह वस्तुसे परिच्छिन्न नहीं होता। वस्तुसे अपरिच्छिन्न इसलिए भी है कि कोई भी प्रशस्त वस्तु अथवा उत्कृष्ट पदार्थ उसको अपनेसे छोटा नहीं बना सकता। स्व-पर सबमें अनुकूल प्रतीयमान होनेके कारण वह आनन्द-रूप है। नित्य निर्दोष होनेके कारण अमल है। विश्व-सृष्टिमें जितने भी चेतन, अचेतन पदार्थ हैं, उनमें पराधीनता, सदोषता आदि अवश्य ही हैं, इसलिए ईश्वरके समान दूसरा पदार्थ न होनेके कारण वह अपनेसे इतर समस्त वस्तुओंसे विलक्षण है।

यह ईश्वर सम्पूर्ण जगत्का आधार है। श्री विष्णुपुराणके अस्त्रभूषणाध्यायमें यह बात कही गयी है कि यह सम्पूर्ण जगत् भगवान्का अस्त्र एवं भूषण है और वह सबका आधार है। उसीके अनु-रूप और वैसा ही स्वरूप प्रकट करनेके लिए सर्वेश्वरका एक मङ्गल-मय दिव्य विग्रह भी है। वह सालम्बनयोगका विषय है, धारणाका शुभ आश्रय है। वह निरवधिक (असीम) अप्राकृत ध्येय, प्राप्य सर्वेश्वरके अनुरूप और उनका अभिमत है। वह सदा एकरूप रहता है। दूसरा कोई भी पदार्थ उसका सजातीय नहीं है। वह द्रव्य एवं सन्निवेश आदिसे भी दिव्य तथा नित्य है। वह क्षेत्रज्ञ चेतन शरीरके समान कर्ममूलक तथा दुःखावह नहीं है, इसलिए निरवद्य है—निर्मल है। कोई भी पदार्थ उसकी उज्ज्वलता, सुन्दरता, सुकुमारता, लावण्य, यौवन आदि अनन्त दिव्य गुणोंकी समानता ही नहीं कर सकता, अधिक तो होगा ही कहाँसे? सबको आकृष्ट कर लेता है। उस श्रीविग्रहमें उसके अनुरूप ही भक्तजनोंको अनन्त विस्मय-सागरमें उन्मज्जन-निमज्जन करानेवाले नित्य-निरवद्य, चित्र-विचित्र, दिव्य आभूषण हैं। वे अधिकाधिक सुगन्ध, सुस्पर्श, उज्ज्व-लता आदिसे अलंकृत एवं अनुपम हैं। उस दिव्य विग्रहके अनुरूप अचिन्त्य शक्ति-संवलित, शङ्ख, चक्र, गदा आदि दिव्य आयुध भी हैं। ऐसे दिव्य विग्रहधारी श्री भगवान् स्वरूपानुरूप, स्वाभीष्ट, नित्य निर्दोष, गुणविभूति ऐश्वर्यादि कल्याण-गुण-गणाकर श्रीदेवी, भूदेवी आदि अपनी पटरानियोंसे सेवित रहते हैं। स्वेच्छावशवर्ती स्वरूपस्थिति एवं प्रवृत्तिवाले दास्यैकरति, शेष, गरुड़, विष्वक्सेन, नित्यसूरि और मुक्त महापुरुष सेवामें संलग्न रहते हैं। परम योगियोंके लिए भी अगम्य अनन्ताश्चर्यमय, अनन्त परिमाण, अविनाशी, निरवद्य धाममें सर्वेश्वर प्रभु भोगरसका अनुभव करते हुए विराजमान रहते हैं। वही श्रीभगवान् इस प्रकृतिमण्डलमें सम्पूर्ण

जगत् उदय, स्थिति, प्रलयकी लीला करते हुए उसका रसास्वादन करते हैं। प्रकृति, पुरुष और कालकी स्वरूप-स्थिति प्रवृत्तियाँ प्रभुके संकल्पाधीन हैं। इसमें भोग्य और भोक्ता भी अनन्त हैं। इसकी रचना भी विचित्र है। वे ही प्रभु अपने संकल्पसे इसका सञ्चालन करते हैं।

श्रीभगवान्के परत्वस्थापक छः गुण हैं। वे हैं–ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति और तेज। इसके विस्तार रूप और भी अनन्त गुण हैं जिनके कारण श्रीभगवान्को पुरुषोत्तम कहा जाता है। वे गुण हैं–सौशील्य, वात्सल्य, मार्दव, आर्जव, सौहार्द, साम्य, कारुण्य, माधुर्य, गाम्भीर्य, औदार्य, चातुर्य, स्थैर्य, धैर्य, शौर्य, पराक्रम, सत्यकामत्व, सत्यसंकल्पत्व, कृतित्व, कृतज्ञता आदि। आश्रयण-सौकर्यापादकत्व, आश्रितकार्य निर्वाह-कत्व प्रभृति सौलभ्य स्थापक, स्वाभाविक असमूर्ध्व, अनन्तकल्याण गुण हैं श्रीभगवान्में।

सर्वकालमें सर्वका साक्षात्कार ही ईश्वरका ज्ञान है। उनका बल, श्रमके प्रसङ्गसे रहित सर्वसाधारण सामर्थ्यरूप है। उनकी इच्छाका कभी व्याहत न होना, और सबका नियन्त्रण करना ही ऐश्वर्य है। सबका उपादान होनेपर भी, सबको धारण करनेपर भी, सबका नियमन करनेपर भी विकार न होना वीर्य है। अघटित घटनाकी सामर्थ्य और सर्वोपादानता शक्ति है। अपने आश्रितसे अतिरिक्त सहकारीकी अपेक्षा न होना और दूसरोंके अभिभवकी सामर्थ्य ही तेज है। लोक-व्यवहारमें कोई-कोई सुषुप्ति आदि अवस्थामें अपनी विभूतिको नहीं जानते। जानकर भी धारण नहीं करते, जानते हुए और धारण करते हुए भी सर्वथा नियमन नहीं कर सकते, समर्थ होनेपर भी धारण और नियमन करनेमें श्रान्त और ग्लान हो जाते हैं, ग्लानि न होनेपर भी उसकी सत्ता-स्थितिके हेतु नहीं होते। हेतु होनेपर भी पराधीन सहकारीकी अपेक्षा रखते हैं। सर्वेश्वरमें ये सब न्यूनताएँ नहीं हैं। अतः इन गुणोंसे उनका परत्व सिद्ध होता है।

सुशीलताका अर्थ है शोभन शील-सम्पत्ति। इसका अभिप्राय यह है कि अत्यन्त महान् भगवान् अत्यन्त निकृष्ट प्राणीको भी निर्भय कर देते हैं और बिना किसी प्रयोजनके जीवको निष्कपट, निश्छिद्र आलि-ङ्गन-दान करते हैं। अपने रक्षणीय जीवके दोषपर दृष्टि न डालकर परम प्रेम करना ही वात्सल्य है। वात्सल्यमें क्षमाका भी अन्तर्भाव है। भगवान् अपने आश्रितका विरह नहीं सह सकते; उसलिए उसके द्वारा कोई आयास न किये जानेपर भी सुखपूर्वक उससे मिलना मार्दव है।

अथवा अपराधीके प्रति शासनोन्मुख होनेपर भी समझा-बुझाकर उसको निरपराध कर देना मृदुता है। मन, वाणी और शरीरकी एकरूपता **सौहार्द** है। इसका फलितार्थ यह है कि भगवान् अपने आश्रितको कभी ठगते या बहलाते नहीं हैं। सामान्य और विशेष रूपसे हितैषी होना सौहार्द है; सामान्यरूपसे सबके और विशेषरूपसे भक्तोंके। **साम्यका** अभिप्राय है कि वे सबके सामाश्रयण करने योग्य हैं। चाहे कोई किसी जातिका हो, गुणी-अवगुणी, सदाचारी-दुराचारी, उत्कृष्ट-अपकृष्ट हो—इन सब बातोंका अनादर करके भगवान् सबको स्वीकार करते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि वे स्वयं किसीका पक्षपात नहीं करते और अपने आश्रितोंकी पूजा-आदर-सम्मान-सामग्री आदिकी अल्पता अथवा विपुलतासे विषम भाव धारण नहीं करते। यद्यपि ईश्वर सबको कर्मानुसार फल देता है; तथापि जिसमें आश्रयणरूप विशेष है, उस आश्रितका पक्षपात भी करता है। यह आश्रित पक्षपात स्वाभाविक समताका विरोधी नहीं है। बिना किसी स्वार्थके दूसरेके दुःखको दूर करनेकी इच्छाका नाम **कारुण्य** है। जैसे शक्कर न डालनेपर दूध स्वभावसे ही स्वादु होता है, उसी प्रकार भगवान् स्वभावसे ही मधुर हैं। दूध तृप्तिका साधन है, फिर भी मधुर है। भगवान् मारनेकी इच्छासे आनेवाले द्वेषी शत्रुओंका भी चित्त और नेत्र हरण कर लेते हैं और उनके हृदयमें रसका सञ्चार कर देते हैं। यही उनका **माधुर्य** है।

प्रभुका भक्तोंपर जो अनुग्रह है, औदार्य है, उसकी आमूल-चूल थाह न लगाना **गाम्भीर्य** है। भगवान्को ज्ञात रहता है कि किस भक्तने कब क्या अपराध किया है, कहाँ दान लिया है, हीनताका कौन-सा कर्म उससे हुआ है; फिर भी वे उसे गुप्त ही रखते हैं, प्रकट नहीं करते। यही **गाम्भीर्य** है। पात्रकी नीचता और देय वस्तुकी श्रेष्ठताका विचार किये बिना दाय विभागके संविधानानुसार प्रत्युपकारकी अपेक्षा किये बिना केवल देते जाना, केवल दे-देकर रस लेना, बहुत देकर भी तृप्त न होना **औदार्य** है। अपने आश्रितके मनमें उपस्थित शङ्काके मलिन कलङ्क-पङ्कको धोना और उसके दोषको छिपा लेना—यही भगवान्का **चातुर्य** है। दोषदर्शी अन्तरङ्गोंके द्वारा भी शरणागतके स्वीकारमें बाधा डालनेपर भी उनकी ओर ध्यान न देकर दोषी शरणागतको भी स्वीकार कर लेना **स्थैर्य** है। अत्यन्त प्रियतमका वियोग होनेपर भी, यथा—सीताका वियोग होनेपर भी अपनी प्रतिज्ञाको भङ्ग

न करना धैर्य है। अथवा अचिन्तित रूपसे बलवान् शत्रुके उपस्थित होनेपर भी उससे प्रभावित न होकर दृढ़चित्त रहना धैर्य है। अपनी सेनाके समान ही भयङ्कर परसेनामें भी अकेले, निर्भय प्रविष्ट हो जाना शौर्य है। परसेनामें प्रवेश करके उसका संहार करना पराक्रम है। अपने और अपने आश्रितोंके द्वारा भोग्य नित्यविभूतियोंसे युक्त होना सत्यकामता है। चाहे जब अवतार ग्रहण करना, सृष्टि, स्थिति, प्रलय करना और मोक्ष देना—इन सबमें संकल्पकी अमोघता ही सत्य-सङ्कल्पता है। भगवान्को कृती कहनेका यह अभिप्राय है कि वे सबका उपकार ही करते हैं और अपने आश्रितोंका कार्य पूरा करके अपनेको कृतकृत्य मानते हैं।

कोई एक बार कुछ थोड़ा-सा भगवान्के अनुकूल काम कर दे और फिर बादमें अनन्तानन्त अपकार करे; तब भी प्रभु भक्तके आनुकूल्य-लवको कभी नहीं भूलते। सर्वदा उसीका उपकार करते रहते हैं, फिर भी उन्हें ऐसा लगता रहता है कि इसके लिए मैंने कुछ नहीं किया। यहाँतक कि उसके दूर-दूरके सगे-सम्बन्धियोंकी रक्षा करते हैं, फिर भी अपनेको ऋणी मानते हैं। यही भगवान्की कृतज्ञता है।

इस प्रकारके भगवान्के अगणित गुण हैं, जिनसे उनकी शरण ग्रहण करनेमें सुगमता हो। भक्तका कार्य सिद्ध हो और भगवान् सुलभ हों। ये गुण भगवान्में स्वाभाविक रहते हैं और इनसे आकृष्ट होकर जीव उनके भजनमें प्रवृत्त होते हैं।

इस प्रकार यह निरूपण किया कि रूप, गुण, भूषण, आयुध, महिषी, परिजन, स्थान, उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, शील, भोग्य, भोगोपकरण, भोगस्थान, भोक्ता, आदिसे परिपूर्ण यह निखिल जगत्, प्रकृति, पुरुष, काल—ये सबके-सब भगवान्के अधीन हैं। उनका स्वरूप, स्थिति, प्रवृत्ति और भेद—सब प्रभुके परतन्त्र हैं। ये सब भगवान्के आधारसे रहते हैं, उन्हींके नियम्य हैं, उन्हींके शेष हैं। वे इन सब चेतन एवं अचेतन पदार्थोंसे सदा विशिष्ट हैं। वे सब हेय पदार्थोंसे रहित हैं, कल्याणैक-तान हैं। अपनेसे अतिरिक्त समस्त पदार्थोंसे विलक्षण हैं और सत्य-ज्ञानानन्त आनन्दस्वरूप हैं। इन्हींका नाम परब्रह्म परमात्मा, सर्वेश्वर, पुरुषोत्तम आदि है। यह भगवान् श्रीमन्नारायण ही परम तत्त्व हैं। चेतन और अचेतन सब अवसर तत्त्व हैं।

●

भिक्षु शङ्करानन्दजी : एक संस्मरण

श्री स्वामी अखण्डानन्दजी सरस्वती

ये महन्त-महामण्डलेश्वर नहीं, केवल कौपीनवन्त सन्त थे। सम्प्रदाय-विशेषके मनोनीत आचार्य नहीं, अवधूत थे। स्वशिष्य-प्रतिष्ठित पीठके अधीश्वर नहीं, साक्षात् ब्रह्म थे। वे मजहबकी सीमाओंसे घिरे मौलवी नहीं, ला-मजहब फकीर थे। वे व्यक्तिके रूपमें भी एक देदीप्यमान प्रकाश थे।

विक्रम संवत् १९८७-८८ के आस-पास स्वामी श्री योगानन्दजी पुरी महाराजकी कृपासे मेरे मनमें यत्किंचित् वैराग्यका उदय हुआ। काशीदेवी-मठके अध्यक्ष स्वामी श्री रामानन्दजी व्याकरणाचार्यका पत्र लेकर कनखल-स्थित श्री हरिभारतीजी महाराजके आश्रममें जा पहुँचा। वहाँ श्री भागवतानन्दजी महाराज काठकोपनिषद् भाष्यका स्वाध्याय कराते थे। मैं आश्रममें भोजन कर लेता। स्वाध्याय, पुष्पाञ्जलिके अतिरिक्त कालमें भगवती भागीरथीके तटपर बैठकर आत्मचिन्तन करता। एक दिन मैंने सबके सामने ही महामण्डलेश्वरजीसे प्रश्न किया : 'यहाँ कोई अच्छे महापुरुष रहते हों तो उनका दर्शन सत्संग करनेके लिए जाया करूँ?' मेरा प्रश्न सुनकर वे हँस पड़े; और बोले : तुम्हारा अभिप्राय किसी विरक्त महात्मासे है न ?' मैंने कहा : 'हाँ।' वे बोले : 'तुम यहाँसे पास ही अटल अखाड़ेके खण्डहरमें भिक्षु शंकरानन्दका सत्सङ्ग किया करो। वे केवल टाटकी लंगोटी पहनते हैं, चौबीस घण्टोंमें केवल एक बार मधुकरी माँगकर खाते हैं। बीचमें इलायची भी नहीं खाते। भिक्षा-कालके अतिरिक्त पानी भी अपराह्णमें केवल एक बार पीते हैं। बड़े विचार-वान् पुरुष हैं। मैंने महामण्डलेश्वर-जीके सत्परामर्शसे ही पहले-पहल भिक्षुजीका दर्शन किया था। मेरा मन अब भी कभी-कभी उनके प्रति कृतज्ञताके भारसे झुक जाता है।

वैराग्यके उन प्राथमिक दिनोंमें कभी मेरे मनमें संग्रही साधुओंके प्रति श्रद्धा नहीं होती थी। इस दोषके कारण मैं अनेक सन्त-महा-पुरुषोंके दर्शनसे वञ्चित रह गया। काशीके प्रख्यात सिद्ध स्वामी विशुद्धानन्दजी गन्धीबाबा और भारतधर्म-महामण्डलके स्वामी ज्ञानानन्दजीका दर्शन भी मैं नहीं कर सका। यद्यपि उनके आश्रमके द्वारसे प्रायः प्रतिदिन ही निकलता था।

नाव और सेवकोंकी उपस्थितिकी बात सुनकर श्री अच्युतमुनिजीके पास भी नहीं गया। इसी मनोवृत्तिके कारण मैंने श्री भागवतानन्दजी महाराजसे वैसा प्रश्न करनेका साहस किया था, परन्तु उन्होंने अपनी सहज साधुतासे मेरी धृष्टता और अविनयपर ध्यान नहीं दिया और मेरी बातको बालकोचित समझकर हँस दिया। अब मैं जानता हूँ कि सत्पुरुष किसी भी अवस्थामें रह सकते हैं।

भिक्षु श्री शङ्करानन्दजीके सत्सङ्गमें बहुत रस आने लगा। वे संसारकी चर्चा सर्वथा नहीं करते थे। वैराग्य और तत्त्वज्ञानका ही विशेष विवेचन करते थे। धीरे-धीरे श्रद्धा बढ़ने लगी; मैं अपराह्णमें तीन-तीन घण्टे उनके पास रहने लगा। उनकी सेवा तो कुछ भी नहीं, कभी-कभी गङ्गाजल ला दिया करता था। जब वे वेदान्त-वैराग्यकी ऊँची चर्चा करते तो मैं श्रीमद्भागवतका श्लोक बोलकर उसका समर्थन करता। इसपर वे बोले: 'मैं तो समझता था कि श्रीमद्भागवतमें कथा-कहानी और कृष्णकी बाललीला-माखनचोरी-चीरहरण आदिका ही वर्णन है। यह तो वेदान्तके गम्भीर सिद्धान्तका निरूपण है। तुम मुझे इसके कुछ अंश सुनाओ।' मैंने उनकी आज्ञा शिरोधार्य करके तीन महीनेतक एकादश, सप्तम दो स्कन्ध और अन्तमें रास-लीला सुनायी। बहुत प्रसन्न हुए। अन्तिम दिन उन्होंने एक लीला रची। मेरा हाथ पकड़कर एकान्तमें ले गये। वे चबूतरेपर बैठे, मैं नीचे। उन्होंने कहा: 'तुमने मुझे श्रीमद्भागवत सुनाया है; मैं तुम्हें दक्षिणा दूँगा।' मैं सोचने लगा—इनके पास तो कुछ है नहीं, ये दक्षिणा क्या देंगे? उन्होंने कहा कि श्रीमद्भागवतमें ज्ञान-सन्देशको ही दक्षिणा कहा गया है। मैं तुम्हें वही दूँगा। तुम्हें क्या चाहिए?' मैंने कहा: 'मुझे कल्याणके अतिरिक्त कुछ नहीं चाहिए।' उन्होंने सिरपर हाथ रख दिया और कहा: नारायण! तुम कल्याणस्वरूप हो। अकल्याणका भ्रम छोड़ दो। मेरी एक बात मान लो। आजसे तुम अपनेको कभी जीव मत समझना। तुम कर्ता-भोक्ता-परिच्छिन्न संसारी नहीं हो; स्वयं ब्रह्म हो।' इसके बाद उन्होंने मुझसे संन्यासमन्त्र प्रैषका उच्चारण करवाया और कहा: आजसे तुम संन्यासी हो। घरमें रहो या बाहर। कपड़े सफेद पहनो या लाल। किसी स्थान, वस्तु, तथा व्यक्तिसे तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है। तुम असङ्ग हो। संन्यास वेश नहीं, अन्तर्दृष्टि है। बन्ध-मोक्ष वास्तविक नहीं, मायामात्र हैं। मन ही माया है। तुम तभी बद्ध हो जब अपनेको बद्ध मानते हो। सम्पूर्ण भेद मनकी स्फुरणा ही है। यही

सबके लिए 'नाहीं'

एक दिन किसी महात्माके पास पाँच-सात स्त्री-पुरुष आये। उन्होंने अलग-अलग प्रार्थना की 'भगवन् ! आप हमारे घर पधारिये।' महात्माने सबको एक ही उत्तर दिया कि हम अभी तुम्हारे घर नहीं जा सकेंगे। नाहीं सुनकर सबको दुःख हुआ। सबने अलग-अलग उलाहना दिया।

स्त्रीने कहा : 'अब मैं वृद्धा हो गयी, इसलिए आप मेरी बात नहीं सुनते, मैं अपनी पुत्रवधूको भेज दूँगी—वही आपको ले जायगी।'

एक पुरुषने कहा : 'मैं आपका कौन लगता हूँ, आपके चेलेको भेज दूँगा, वही आपको ले जायगा।'

दूसरे पुरुषने कहा : 'मैं गरीब हूँ, इसलिए आप मेरे बुलाये नहीं जाते, मैं आपको बुलानेके लिए सेठजीको भेज दूँगा।'

तीसरे पुरुषने कहा : 'हाँ-हाँ, मैं समझ गया, मुझसे पहले आपका कुछ अपराध हो गया था। इसी कारण आप नहीं चल रहें हैं।'

चौथेने कहा : 'जब मैं पिछली बार आपको ले आया, तब आपका स्वागत-सत्कार नहीं बन पड़ा था, इसीसे आप नहीं चल रहे हैं।'

महात्मा : 'नहीं-नहीं, यह सब कोई बात नहीं है। तुमलोगोंमेंसे किसीके हृदयमें पूरी श्रद्धा नहीं है। स्त्री कहती है कि जवानके बुलाये जाओगे : वह मुझे कामी समझती है।'

पहला पुरुष मुझे मोही, दूसरा पुरुष लोभी, तीसरा क्रोधी और चौथा स्वागत-सत्कार, पूजा-प्रतिष्ठाका इच्छुक समझता है। जिसके अन्तःकरणको तुमलोग शुद्ध ही नहीं मानते, वह महात्मा क्या होगा ? और उसको बुलानेसे तुम्हें लाभ भी क्या होगा ? जो तुम्हारी दृष्टिमें शुद्ध—अन्तःकरण है, वही तुम्हारे लिए महात्मा है। उसके दर्शन-सत्संगसे ही तुम्हें लाभ होगा। तुम्हें उसीको बुलाना भी चाहिए। ●

माया है जो भेदके कारणके रूपमें आरोपित है। परमार्थ-दृष्टिसे वह कुछ नहीं है।

यह एक आश्चर्यकी बात है कि उस दिनके बाद कभी 'मैं जीव हूँ' इस भ्रान्तिका उदय नहीं हुआ ?

चाण्डाल और आचार्य शङ्कर

— अनुवादक : श्री बलदेव उपाध्याय —

[भूतपूर्व-संचालक : अनुसन्धान विभाग वा० सं० वि० वि०]

एकदा खलु वियत्त्रिपुरद्विड्भाललोचनहुताशनभानोः।
विस्फुलिङ्गपदवीं दधतीषु प्रज्ज्वलत्तपनकान्तशिलासु॥
दर्शयत्युरुमरीचिसरस्वत्पूरमृज्यपरमायिनि भानौ।
साधुनैकमणिकुट्टिमसूर्छद्रश्मिजालकशिखावलपिच्छम्॥
पङ्कजावलिविलीनमराले पुष्करान्तरभिगत्वरमीने।
शाखिकोटरशयालुशकुन्ते शैलकन्दरशरण्यमयूरे॥
शङ्करो दिवसमध्यमभागे पङ्कजोत्पलपरागकषायाम्।
जाह्नवीमभिययौ सह शिष्यैराह्निकं विधिवदेव विधित्सुः॥

एक बार जब जलती हुई सूर्यकान्तकी शिलाएँ त्रिपुरारि शङ्करके भाल-लोचनसे निकलनेवाली अग्निकी चिनगारियोंका रूप धारण कर रही थीं अर्थात् पत्थर जब गर्मीके मारे लहक रहे थे; जब सूर्य अपनी अनेक किरणोंसे समुद्रकी बाढ़की सृष्टि कर रहा था तथा अनेक मणिकुट्टिम (पृथ्वी) के ऊपर पड़नेवाली किरणोंसे मोरके पङ्खोंकी शोभा दिखलाकर ऐन्द्रजालिककी तरह प्रतीत हो रहा था; गर्मीके मारे हंसोंके कमल-पंक्तियोंमें छिप जानेपर, मछलियोंके पानीके भीतर चले जानेपर, चिड़ियोंके वृक्षोंके कोटरमें सो जानेपर, मोरोंके पर्वतकी कन्दराओंमें शरण लेनेपर, ठीक दोपहरके समय आचार्य शङ्कर अपने विद्यार्थियोंके साथ दिनके धार्मिक कृत्योंको विधिपूर्वक निपटानेके लिए पङ्कजोंसे गिरे हुए परागोंके कारण सुगन्धित होनेवाली गङ्गाके निकट चले।

सोऽन्त्यजं पथि निरीक्ष्य चतुर्भिर्भीषणैः श्वभिरनुद्रुतमारात्।
गच्छ दूरमिति तं निगजाद प्रत्युवाच च स शङ्करमेनम्॥
अद्वितीयमनवद्यमसङ्गं सत्यबोधसुख - रूपखण्डम्।
आमनन्ति यतयो निगमान्तास्तत्र भेदकलना तव चित्रम्॥

रास्तेमें उन्होंने चार भयानक कुत्तोंसे घिरे हुए एक चाण्डालको देखकर 'दूर हटो, दूर हटो' ऐसा कहा। इस पर वह चाण्डाल शङ्करसे कहने लगा : 'अरे, सैकड़ों उपनिषद्के वाक्य (जैसे एकमेवाद्वितीयम्–एक ही अद्वितीय ब्रह्म है, असङ्गो ह्ययं पुरुषः—यह पुरुष आसक्तिहीन है), अद्वितीय, अनिन्दनीय, असङ्ग (दृश्य पदार्थोंके सङ्गसे हीन), सत्-चित्-आनन्दरूप, भेद-हीन ब्रह्मका प्रतिपादन करते हैं। उस ब्रह्ममें भी तुम भेदकी कल्पना करते हो, यह आश्चर्यकी बात है। आशय यह है कि एक ही ब्रह्म आत्मरूपसे जब प्रत्येक शरीरमें व्याप्त है, तब किसीको दूसरा समझना बिल्कुल अनुचित है।

दण्डमण्डितकरा धृतकुण्डाः पाटलाभवसनाः पटुवाचः।
ज्ञानगन्धरहिता गृहसंस्थान् वञ्चयन्ति किल केचन वेषैः॥

अनेक पुरुष अपने संन्यासी-वेशसे गृहस्थोंको ठगा करते हैं। वे हाथमें दण्ड धारण करनेवाले, कमण्डलुसे मण्डित, पीले वस्त्रको पहनते और चतुरताके वचन बोलते हैं; परन्तु ज्ञानके लेशसे भी हीन हैं।'

गच्छ दूरमिति देहमुताहो देहिनं परिजिहीर्षसि विद्वन्।
भिद्यतेऽन्नमयतोऽन्नमयं किं साक्षिणश्च यतिपुङ्गव साक्षी॥

चाण्डालने आगे कहा : 'विद्वन्! तुमने कहा कि दूर हटो। इससे तुम्हारा अभिप्राय क्या देहसे है अथवा देहीसे ? यह शरीर अन्नसे

मोक्ष

जो लोग मोक्ष मानते हैं, वे कर्मसे मानते हैं, उपासनासे मानते हैं या ज्ञानसे मानते हैं। जो ज्ञानसे मोक्ष मानते हैं उनके मनमें तो मोक्ष अपना स्वरूप ही है अज्ञानकालमें भी हम मुक्त हैं। ज्ञानसे तो केवल मुक्तिका ही बोध हुआ। मुक्तिके मिटनेका कोई कारण नहीं है। जहाँ ईश्वरकी कृपासे मोक्ष प्राप्त होगा, वहाँ ईश्वरकी अप्रसन्नता या ईश्वरकी इच्छा-विशेषसे मुक्ति खण्डित हो जायगी, क्योंकि ईश्वर सर्वसमर्थ-सर्वशक्तिमान् है। जहाँ कर्मसे मोक्ष मानते हैं, वहाँ मोक्ष सीमित होता है। अतः कर्मसे मोक्ष माननेवालोंने मोक्षकी सीमा भी मानी है। कैवल्य मोक्ष तो अपनी आत्मा ही ब्रह्म है, इस ज्ञानसे ही होगा। अतः 'अयमात्मा ब्रह्म' यह मोक्षका हेतु महावाक्य है। ●

परिपुष्ट होनेके कारण 'अन्नमय' कहलाता है। अतः क्या एक अन्नमय दूसरे अन्नमयसे भिन्न है? इस शरीरके भीतर रहनेवाला जीव हमारी समग्र क्रियाओंका द्रष्टा होनेसे 'साक्षी' कहलाता है। तब क्या एक साक्षी दूसरे साक्षीसे किसी प्रकार भिन्न है?

ब्राह्मणश्वपचभेदविचारः प्रत्यगात्मनि कथं तव युक्तः।
बिम्बितेऽम्बरमणौ सुरनद्यामन्तरं किमपि नास्ति सुरायाम्॥

'क्या प्रत्यगात्माके विषयमें ब्राह्मण और चाण्डालका भेद समझना तुम जैसे अद्वैतवादीके लिए ठीक है? गङ्गा तथा मदिरापर प्रतिबिम्बित होनेवाले सूर्यमें क्या किसी प्रकारका भेद है? सूर्यके प्रतिबिम्ब भले भिन्न हों, परन्तु दोनों वस्तुओंमें प्रतिबिम्बित सूर्य एक ही है। इसी प्रकार प्रत्येक शरीरमें स्थित साक्षी आत्मा एक ही है।,

शुचिर्द्विजोऽहं श्वपच व्रजेति मिथ्याग्रहस्ते मुनिवर्य कोऽयम्।
सन्तं शरीरेष्वशरीरमेकमुपेक्ष्य पूर्णं पुरुषं पुराणम्॥

'हे मुनिवर! मैं पवित्र ब्राह्मण हूँ और तुम श्वपच हो, इसलिए दूर हटो, यह आपका मिथ्या आग्रह कैसा है इस प्रकार आप क्योंकि, शरीरोंमें रहनेवाले, एक, पूर्ण, अशरीरी पुराणपुरुषकी उपेक्षा कर रहे हैं।,

अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तमाद्यं विस्मृत्य रूपं विमलं विमोहात्।
कलेवरेऽस्मिन् करिकर्णलोलाकृतिन्यहंता कथमाविरास्ते॥

'अचिन्तनीय, अव्यक्त, अनन्त, आद्य, उपाधिशून्य अपने स्वरूपको अज्ञान द्वारा भुलाकर हाथीके कानके समान चञ्चल इस शरीरमें आप 'अहं'—भावना क्यों कर रहे हैं?,

विद्यामवाप्यापि विमुक्तिपद्यां जागर्ति तुच्छा-जनसंग्रहेच्छा।
अहो महान्तोऽपि महेन्द्रजाले मज्जन्ति मायाविवरस्य तस्य॥

'विमुक्ति (मोक्ष) की मार्गभूत विद्याको प्राप्त करके भी आपके हृदयमें जनसंग्रहकी यह तुच्छ इच्छा क्यों जग रही है? आश्चर्यकी बात है कि उन मायावी-शिरोमणि परमात्माके विशाल इन्द्रजालमें आपके समान महान् पुरुष भी फँस रहे हैं।'

इत्युदीर्य वचनं विरतेऽस्मिन् सत्यवाक्तदनु विप्रतिपन्नः।
अत्युदारचरितोऽन्त्यजमेनं प्रत्युवाच स च विस्मितचेताः॥

इतने वचन कहकर जब चाण्डाल चुप हो गया तो 'यह अन्त्यज है या नहीं' इस विषयमें आचार्यको सन्देह हुआ। अत्यन्त उदारचरित्र, सत्यवचन शङ्कर विस्मित होकर उस चाण्डालसे बोले :

सत्यमेव भवता यदिदानीं प्रत्यवादि तनुभृत्प्रवरैतत्।
अन्त्यजोऽयमिति संप्रति बुद्धिं सन्त्यजामि वचसाऽऽत्मविदस्ते ॥

'हे प्राणियोंमें श्रेष्ठ ! जो कुछ आपने कहा है वह बिलकुल सच्चा है। आप आत्मज्ञानी हैं। आपके इन वचनोंसे आपके अन्त्यज होनेकी बुद्धिको मैं दूर हटा रहा हूँ।'

जानते श्रुतिशिरांस्यपि सर्वे मन्वते च विजितेन्द्रियवर्गाः।
युञ्जते हृदयमात्मनि नित्यं कुर्वते न धिषणामपभेदाम् ॥

'सभी उपनिषदें यह जानती हैं; इन्द्रिय-वर्गको जीतनेवाले लोग इस बातका मनन करते हैं तथा अपने अन्तःकरणको आत्मामें नित्य रमण कराते हैं। इतना होनेपर भी वे अपनी बुद्धिको भेद-रहित नहीं करते।'

टिप्पणी : आत्मतत्त्वके साक्षात्कारके उपनिषद् - प्रतिपादित तीन उपाय हैं—श्रवण, मनन, निदिध्यासन। उपनिषद्-वाक्योंके श्रद्धा-पूर्वक सुननेको श्रवण कहते हैं। युक्तियोंके द्वारा उनके मननको मनन कहते हैं। इस प्रकार निश्चित तत्त्वको योग द्वारा ध्यान करनेको निदिध्यासन कहते हैं। इन्हीं तीन उपायोंका संकेत इस श्लोकके प्रथम तीन चरणोंमें किया गया है। तीनों उपायोंका स्वरूप इस प्रकार है :

श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा च सततं ध्येयः एते दर्शनहेतवः ॥

भाति यस्य तु जगद् दृढबुद्धेः सर्वमप्यनिशमात्मतयैव।
स द्विजोऽस्तु भवतु श्वपचो वा वन्दनीय इति मे दृढनिष्ठा ॥

'जिस दृढ़बुद्धि पुरुषके लिए यह सम्पूर्ण विश्व सदा आत्म-रूपसे प्रकाशित होता है वह चाहे ब्राह्मण हो, चाहे श्वपच, वह वन्दनीय है, यह मेरी दृढ़ निष्ठा है।

या चितिः स्फुरति विष्णुमुखे सा पुत्तिकावधिषु सैव सदाऽहम्।
नैव दृश्यमिति यस्य मनीषा पुल्कसो भवतु वा स गुरुर्मे ॥

'जो चैतन्य विष्णु शिव आदि देवताओंमें स्फुरित होता है वही चैतन्य कीड़े-मकोड़े जैसे क्षुद्र जीवों तकमें स्फुरित है। वह चैतन्य मैं हूँ, यह दृश्य जगत् नहीं, यह जिसकी बुद्धि है वह चाण्डाल भले हो, वह मेरा गुरु है।'

यत्र यत्र च भवेदिह बोधस्तत्तदर्थसमवेक्षणकाले।
बोधमात्रमवशिष्टमहं तद्यस्य धीरिति गुरुः स नरो मे॥

'इस संसारमें विषयके अनुभवके समय जहाँ-जहाँ ज्ञान उत्पन्न होता है वहाँ-वहाँ सब उपाधियोंसे रहित ज्ञानस्वरूप मैं ही हूँ। मुझसे भिन्न और कोई भी पदार्थ नहीं है, ऐसी जिसकी बुद्धि है वह आदमी मेरा गुरु है।'

टिप्पणी : इन्हीं भावोंको प्रकट करनेवाला आचार्य शङ्करका एक प्रसिद्ध स्तोत्र भी है जो 'मनीषा-पञ्चक' नामसे विख्यात है, क्योंकि पाँचों पद्योंके अन्तमें एषा मनीषा मम यह वाक्य मिलता है। दृष्टान्तके तौरपर एक श्लोक यहाँ उद्धृत किया जाता है :

ब्रह्मैवाहमिदं जगच्च सकलं चिन्मात्रविस्तारितं
सर्वं चैतदविद्यया त्रिगुणयाऽशेषं मया कल्पितम्।
इत्थं यस्य दृढा मतिः सुखतरे नित्ये परे निर्मले
चाण्डालोऽस्तु स तु द्विजोऽस्तु गुरुरित्येषा मनीषा मम॥

भाषमाण इति तेन-कलावानेष नैक्षत तमन्त्यजमग्रे।
धूर्जटिं तु समुदैक्षत मौलिस्फूर्जदैन्दवकलं सह वेदैः॥

इतना कहते हुए शङ्करने अपने आगे उस अन्त्यजको नहीं देखा, प्रत्युत चारों वेदोंके साथ शङ्कर भगवान्‌को देखा जिनके मस्तकपर इन्दुकला चमक रही थी।

भयेन भक्त्या विनयेन धृत्या युक्तः स हर्षेण च विस्मयेन।
तुष्टाव शिष्टानुमतः स्तवैस्तं दृष्ट्वा दृशोर्गोचरमष्टमूर्तिम्॥

उस समय भयसे, भक्तिसे, विनयसे, धैर्यसे, हर्षसे तथा विस्मयसे शङ्कर अपनी आँखोंके सामने शिवकी अष्टमूर्तियोंको देखकर उनकी इस प्रकार स्तुति करने लगे :

दासस्तेऽहं देहदृष्ट्याऽस्मि शम्भो
जातस्तेंऽशो जीवदृष्ट्या त्रिदृष्टे।

सर्वस्याऽऽत्मन्नात्मदृष्ट्या त्वमेवे-
त्येवं मे धीर्निश्चिता सर्वशास्त्रैः ॥

'हे शम्भो ! देह-दृष्टि (देहके विचार) से मैं तुम्हारा दास हूँ और हे त्रिलोचन ! जीव-दृष्टिसे मैं तुम्हारा अंश हूँ । शुद्ध आत्म-दृष्टि-से विचार करनेपर सबकी आत्मा तुम्हीं हो । उस अवस्थामें मैं तुमसे किसी प्रकार भिन्न नहीं हूँ । सब शास्त्रों द्वारा निश्चित किया गया यही मेरा ज्ञान है ।'

टिप्पणी : इस श्लोकमें प्रतिपादित सिद्धान्त अद्वैत-वेदान्तके मूल तत्त्वपर अवलम्बित है । इसमें जीवात्मा और परमात्माके सम्बन्धका विचार किया गया है । देहको लक्ष्यमें रखकर विचार करनेसे परमात्मा स्वामी है और यह देह उनका दास है । जीवदृष्टिसे विचार करनेपर वह अंशी हैं और यह है अंश । जीवके अंश माननेकी कल्पना भी मायाजन्य ही है । जिस प्रकार सर्वेन्द्रियोंसे शून्य होनेपर भी परमात्माके सूर्य, चन्द्र, अग्नि तीन नेत्र माने जाते हैं । इसी प्रकार माया से यह जीव ब्रह्मका अंश माना गया है । चैतन्य-बुद्धिसे जीव और शिव दोनों एक ही हैं । 'तत्त्वमसि' का तात्पर्य इसी मूलगत एकतामें है । इसका समानार्थक यह श्लोक बहुत ही प्रसिद्ध है :

देहबुद्धया तु दासोऽहं जीवबुद्धया त्वदंशकः ।
चितिबुद्धया त्वमेवाहमिति मे निश्चिता मतिः ।।

यदालोकादन्तर्बहिरपि च लोको वितिमिरो
न मञ्जूषा यस्य त्रिजगति न शाणो न च खनिः ।
यतन्ते चैकान्तं रहसि यतयो यत्प्रणयिनो
नमस्तस्मै स्वस्मै निखिलनिगमोत्तंसमणये ॥

'आप निखिल निगम (वेद) के सिरपर विराजनेवाले अलौकिक मणि हैं जिसकी प्रभासे यह संसार भीतर तथा बाहर भी अन्धकार-हीन हो जाता है; तीन लोकोंमें जिसके रखनेकी कोई पेटी नहीं है; न कोई सान (मणिका तेज करनेवाला पत्थर) है, न कोई खान है जहाँसे वह मणि उत्पन्न होगी; जिसके प्रेमी यति लोग एकान्तमें पानेके लिए प्रयत्न करते हैं । ऐसे मणिरूप त्वंपद द्वारा वेदनीय आपको बार-बार नमस्कार है ।'

अहो शास्त्रं शास्त्रात् किमिह यदि न श्रीगुरुकृपा
विना सा किं कुर्याद्यदि न बोधस्य विभवः ।

किमालम्बश्चासौ न यदि परतत्त्वं मम तथा
नमः स्वस्मै तस्मै यदवधिरिहाऽऽश्चर्यधिषणा ॥

'अद्वैततत्त्वका प्रतिपादक शास्त्र धन्य है; परन्तु ऐसे शास्त्रसे भी क्या, यदि गुरुकी कृपा न हो। गुरुकृपाका संपादन भी व्यर्थ है यदि शिष्यमें वह ज्ञानको उत्पन्न न करे। वह ज्ञान भी आलम्बन-शून्य ही होगा यदि परमतत्त्व न हो। यह परमात्मा अपने स्वरूपसे भिन्न नहीं है तथा वही आश्चर्य-बुद्धिका पर्यवसान है। इस जगत्में सबसे अधिक आश्चर्यका विषय स्वयं परमात्मा ही है। ऐसे परमात्मतत्त्वको नमस्कार है।'

टिप्पणी : तत्त्वज्ञानके उत्पन्न करनेमें शास्त्रकी महिमा अद्भुत मानी गयी है। 'तत् त्वमसि' आदि महावाक्योंके श्रवणमात्रसे ही ब्रह्मके अपरोक्षज्ञानका उदय हो जाता है। वेदान्तमें 'विवरण-प्रस्थान'के अनुयायी आचार्योंका यही मत है। स्वयं आचार्यका भी यही अभिप्राय है। आचार्यके शब्दोंमें शब्दशक्ति अचिन्त्य है। शब्दसे ही अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है :

शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वात् शब्दादेवापरोक्षधीः।
प्रसुप्तः पुरुषो यद्वच्छब्देनैवावबुध्यते।
—उपदेशसाहस्री

इत्युदारवचनैर्भगवन्तं संस्तुवन्तमथ च प्रणमन्तम्।
बाष्पपूर्णनयनं मुनिवर्यं शङ्करं सबहुमानमुवाच ॥

ऐसे उदार वचनोंसे स्तुति करनेवाले, प्रणाम करनेवाले, आनन्दाश्रुओंसे परिपूर्ण नेत्रोंवाले मुनिवर शङ्करसे महादेवजी आदरके साथ बोले :

भाष्य-रचनाका प्रस्ताव

अस्मदादिपदवीमभजस्त्वं शोधिता तव तपोधन निष्ठा।
बादरायण इव त्वमपि स्याः सद्वरेण्य मदनुग्रहपात्रम् ॥

शङ्कर, तुमने हमारी पदवी प्राप्त कर ली है। हे तपोधन ! तुमने प्रज्ञाके उत्कर्षको प्राप्त किया है। हे सज्जनोंमें श्रेष्ठ ! बादरायण व्यासके समान तुम भी मेरे अनुग्रहके पात्र बनो। इस प्रकार शिवने आशीर्वाद दिया।' [श्रीशङ्कर-दिग्विजय]

वृत्ति-ज्ञान सापेक्ष है, स्वरूप-ज्ञान निरपेक्ष

स्वरूप-ज्ञान एवं वृत्ति-ज्ञानका विवेक (पृथक्करण) भले ही द्वैतकी भाषामें किया जाय, परन्तु उसका तात्पर्य अद्वैत अर्थात् निरपेक्ष सत्यमें है—यह अनायास ही समझा जा सकता है। भेदमात्र ही ज्ञान-सापेक्ष है। वृत्ति-ज्ञानका उदय और विलय होता है; अर्थात् उसका प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव है। इसलिए अनित्य है, क्षणिक है, कालके एक अवयवमें है। वृत्तिज्ञानके क्षणिक होनेसे उसके द्वारा कालका बाध नहीं हो सकता। वृत्तिज्ञानका कोई विषय होता है—घट-पट आदि। वे प्रत्यक्ष-सिद्ध हों या अनुमान-सिद्ध, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। विषयकी अपेक्षासे वृत्ति है और वृत्तिकी अपेक्षासे विषय, परन्तु ये दोनों और इनका अभाव भी अपने आश्रयभूत स्वयंप्रकाश ज्ञानसे प्रकाशित हैं। कहनेका अभिप्राय यह है कि वृत्तिज्ञान ही क्षणिक, अध्रुव, विषय-सापेक्ष एवं आश्रयापेक्ष होता है। अनेकता और तत्सापेक्ष एकत्वसंख्या भी वृत्तिज्ञानका विषय है। यही लोक-व्यवहारकी दृष्टिसे सत् और परमार्थ-दृष्टिसे असत् होनेके कारण निःस्वभाव और सदसत्त्वेन अनिर्वचनीय भी है। स्वयं प्रकाश, स्वत्व-परत्व-विनिर्मुक्त, मुक्तामुक्तकल्पनाधिष्ठान कल्पिताध्यस्ताधिष्ठानभावोपलक्षित अद्वितीय स्वतत्त्व न क्षणिक है, न शून्य है। इसको लोक-व्यवहार-सिद्ध शब्दोंके द्वारा अज्ञान-निवृत्ति मात्रके लिए समझाया जाता है। लोकानुभूतिसिद्ध अज्ञानके बाधसे अतिरिक्त इसके निरूपणका दूसरा कोई प्रयोजन नहीं है।

कालने जगत्से कहा : 'मैं तुम्हें नष्ट कर रहा हूँ।' जगत्ने कहा : 'उचित ही है। मैंने पहले तुम्हें टुकड़े-टुकड़े किया था।'

घटाकाशने महाकाशसे कहा : 'मैं स्वतन्त्र हूँ।' महाकाशने तुरन्त उत्तर दिया : 'मिट्टीकी झूठी दीवारपर इतना अभिमान!'

आवरण मत करो बाबा !

प्रवक्ता : म० म० श्री श्रीगोपीनाथजी कविराज

१९३५ ई० के दिसम्बरमें जब (श्री विशुद्धानन्दजी) बाबाजी काशीमें विद्यमान थे और माताजी भी आकर गोदौलियाके पांडे-धर्मशालामें टिकी हुई थीं, इस समय विशेष प्रयत्न करके मैं माताजीको गुरुदेवके आश्रममें ले गया । गुरुदेवने बड़े प्रेमके साथ माताजीका सत्कार किया । उस समयकी एक घटना बहुत रोचक है ।

माताजीको मैं एक बसमें धर्मशालासे मलदहिया-स्थित 'श्रीविशुद्धानन्द-कानन'में ले आया था । उनके साथ पन्द्रह लोग थे । उनमें माताजीके पतिदेव श्री भोलानाथ तथा उनके परम भक्त 'भाईजी' (ज्योतिषचंद्र बसु) भी थे । मांके (भक्तवृन्दों)में काश्मीर तथा अन्य स्थानोंके कई लोग थे । उनमें पुरुष भी थे, महिलाएँ भी । मैंने पहले ही उतरकर बाबाको माताजीके आनेकी सूचना दे दी । बाबाने इन लोगोंकी अभ्यर्थनाके लिए दो तल्लेपर विज्ञान-मन्दिरके पूरबवाले बरामदेमें कम्बल बिछवाया था । माताजी तथा विशिष्ट व्यक्तियोंके लिए पृथक्-पृथक् आसन थे । कोनेमें आराम-कुर्सीपर बाबा स्वयं बैठे थे । आश्रमके भक्त लोग अलग पश्चिमकी ओर बैठे थे । मैंने विचार किया था कि माताजीके समाजसहित ऊपर जानेके पूर्व मैं बाबाको उनके पधारनेका संवाद दे दूं । परन्तु माताजी मेरे साथ-साथ आकर पहले ही दो तल्ले-पर पहुँच गयीं । मैं उनके पीछे साथ-साथ गया । निकट पहुँचकर वे बोलीं : 'बाबा । तुम्हारी यह छोटी लड़की उपस्थित है । अब कन्या पिताके पास आ गयी है ।' यह कहकर वे बरामदेमें गुरुदेवकी ओर चलने लगीं । गुरुदेवने आरामकुर्सी पर ही खड़े होकर माताजीकी अभ्यर्थना की और कहा : 'हाँ बेटी ! घरमें चली आ ।' माताजीके बैठनेके लिए आसन बिछा हुआ था, किन्तु बाबाके सामने वे आसनपर न बैठकर भूमिपर ही बैठ गयीं । भोलानाथजी आसनपर बैठे । साथमें आये हुए अन्य लोग कम्बलपर बैठ गये । बरामदा प्रायः लोगोंसे भर गया ।

कुछ समयके बाद काश्मीरी लोगोंपर दृष्टि पड़नेपर बाबाने पूछा : 'बेटी ये लोग कहाँसे आये हैं ?

कौन देशके हैं। बंगीय नहीं मालूम पड़ते?' माताजी बोलीं! 'बाबा, यह क्या पूछ रहे हो? ये कहाँसे आये? इससे आपका क्या तात्पर्य है? ये सब एक ही जगहसे आये, जहाँसे सब आते हैं।' बाबा समझ गये कि ये परिहास कर रही हैं। उन्होंने कहा: 'हाँ बेटी! सब एक ही जगहसे आते हैं, किन्तु बाहर आते ही नाना हो जाते हैं।' माँ बोली: 'हाँ बाबा! नाना हैं किन्तु एकके भीतर ही।'

इसके बाद माँने भाईजीसे कहा: 'ज्योतीश! तुम बहुत दिनोंसे बाबाके विषयमें जानना चाहते थे, विशेषत: सूर्य-विज्ञानके सम्बन्धमें। अब यहाँ आ गये। बाबाके सामने हो। हृदयकी आकांक्षा प्रकाशकर अनुरोध करो। बाबा दिखायेंगे।' यह कहकर माताजीने हमारी तरफ देखा। मैंने उनका आशय समझकर बाबासे कहा: 'बाबा, आपका जीवनचरित पढ़कर ज्योतीश बाबूको सूर्य-विज्ञानके विषयमें यह जाननेकी इच्छा हुई है कि वह क्या है? कैसे होता है।' बाबाने कहा: 'सूर्यविज्ञानसे योगका कोई सम्बन्ध नहीं है। सूर्यविज्ञानसे सृष्टि होती है। योग और इच्छा शक्तिसे भी सृष्टि होती है अर्थात् बाह्य जगत्का कोई भी पदार्थ दोनों प्रकारसे बन सकता है। फिर भी दोनोंमें बहुत भेद है। सूर्य-विज्ञानमें सूर्यकी रश्मि पहचानकर विभिन्न रश्मियोंका संघटन करके सृष्टि करनी होती है। सूर्यका नाम ही है सविता अर्थात् प्रसव करनेवाला। समस्त जगत्का आविर्भाव सूर्यसे ही हुआ है। इसीसे सृष्टि, पालन, संहार सब कुछ होता है। सूर्य-विज्ञान-विद् उस रहस्यको आयत्त कर लेते हैं, और रश्मियोंका स्वरूप पहचानकर उनके परस्पर मेलकी प्रणाली सीखकर इच्छानुरूप वस्तुसृष्टि कर सकते हैं। नाना प्रकारकी क्रिया भी कर सकते हैं। इससे योगीकी आत्मिक शक्तिके ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। किन्तु इच्छाशक्तिसे यदि सृष्टि करना

सर्वव्यापी

हमने एक पुष्प ले लिया और उसे रख दिया। कुछ दिनोंमें उसमें छोटे-छोटे कीड़े पड़ गये। चलने-फिरनेवाले उन कीड़ोंमें हृदय है या नहीं?

आपसे पूछें कि आपका हृदय कहाँ है? तो छातीपर आप हाथ रखेंगे, किन्तु आपके पूरे देहमें कहाँ हृदय नहीं है? आपके रक्तमें—रक्तकी एक बूँदमें लाख-लाख कीटाणु हैं, उनमें हृदय है या नहीं? इसलिए यह ईश्वर सबके हृदयमें स्थित है, सर्वव्यापी है। —आ० वा०

पड़े, तब उपादान बाहरसे लिया नहीं जाता, आत्मस्वरूपसे ही लिया जाता है। सूर्यविज्ञानमें सूर्य-रश्मिसे उपादान लिया जाता है। इसी प्रकार चन्द्र-विज्ञानमें चन्द्रसे, वायु-विज्ञानमें वायुसे और शब्द-विज्ञानमें शब्दसे लिया जाता है। परन्तु इच्छाशक्तिसे जो सृष्टि होती है, उसमें उपादान नहीं लिया जाता, वहाँ आत्मा ही निमित्त है, आत्मा ही उपादान है। इसलिए योग अर्थात् इच्छाशक्तिसे सृष्टि करना विशेषरूपसे निषिद्ध है, क्योंकि उससे आत्मिक हानि होती है। यद्यपि उसकी क्षति पूर्ति (कम्पेन्सेसन) हो सकती है फिर भी यह योगीकी इष्ट-सिद्धिमें बाधक होता है। परन्तु सूर्य-विज्ञानके द्वारा की गयी सृष्टिमें किसी प्रकारके आत्मिक अपकर्षकी संभावना नहीं होती।'

इतना कहकर बाबा अपने पुरातन शिष्य दुर्गाकान्त रायसे बोले : 'भीतरसे लेन्स ले आओ।' दुर्गाकान्त बाबू अवकाशप्राप्त सब-जज थे। पेंशन लेनेके बाद निरन्तर बाबाके साथ रहा करते थे। बाबाके आदेशानुसार नित्य प्रयोगमें आनेवाला ज्ञानगंजका एक छोटा-सा लेन्स ले आये। यह बराबर उनके पाकेटमें रहता था। बाबा उसके द्वारा रश्मि-निर्गम करके विभिन्न प्रकार दृश्य दिखाने लगे। पहले नाना प्रकारकी गन्ध दिखायी, विभिन्न प्रकारकी पुष्प-रचना दिखायी, उससे कपूर, केसर उत्पन्न करके दिखाया। ज्योतीश बाबू सूर्य-रश्मिसे भौतिक-सत्ता-सम्पन्न स्थूल-वस्तुकी उत्पत्ति देखकर चकित रह गये। माताजीने कहा : 'बाबा! यह तो प्रकृति-शक्तिका खेल है। अतः यह भी एक प्रकारकी मायाका ही चमत्कार है।' बाबा बोले : 'हाँ, माया है, समग्र विश्व-सृष्टि ही तो मायावीकी माया है। इसमें क्या संदेह है?' माँने कहा : 'एक मायाके धक्केसे तो ये सभी लोग मोहित होकर पड़े हुए हैं। फिर मायाके ऊपर माया क्यों दिखाते हो। माया हटा दो।' हम खड़े थे। माताजीने हमारी ओर देखकर कहा : 'बाबाजीको पकड़ो। इनके पास परम वस्तु रखी हुई है। ये ढकनेके ऊपर ढकना देकर आवरण करते हैं। फिर बाबाको सम्बुद्ध करती हुई बोलीं : 'और आवरण मत करो बाबा! सब आवरण हटा दो। परम वस्तु खोलकर दे दो।' बाबाने कहा : 'बेटी, मैं तो देनेके लिए आया हूँ। देनेको उन्मुख हूँ। हाथ भी बढ़ाये हूँ। किन्तु लेता कौन है?' यह कहकर वे हँसने लगे।

दम्भका अधिदेवता

एक काश्मीरी पण्डितकी संस्कृतमें एक पुस्तक 'कला-विलास' है। उसमें दम्भ (दम्भके अधिदेवता) की एक कथा दी हुई है :

ब्रह्मलोकमें सृष्टिकर्ताकी सभा लगी थी। उसमें बड़े-बड़े परमर्षि, महर्षि, देवर्षि, राजर्षि आदि उपस्थित थे। सहसा वहाँ एक सज्जन खड़ाऊँ पहने, जटा बढ़ाये, हाथमें कमण्डलु और कुशमुष्टि लिये आये। वे कुशसे कमण्डलुका जल छिड़ककर पैर रखते थे। सबको बड़ा अद्भुत लगा कि 'ये कौन इतने महान् एवं पवित्र हैं कि ब्रह्मलोकके परम पावन स्थानपर भी जल छिड़के बिना पैर नहीं रखते।'

वे सज्जन आकर ब्रह्माजीके समीप खड़े हो गये। उन्होंने किसीको प्रणाम नहीं किया; ब्रह्माजीको भी नहीं। किसीकी ओर ध्यान भी नहीं दिया। सबको लगा कि ये ब्रह्माजीसे भी कोई बड़े हैं। ब्रह्माजी स्वयं उठकर खड़े हुए और उनसे प्रार्थना की कि आप मेरे आसनपर विराजमान हों। उन्होंने नाक-भौं सिकोड़ी और बोले : छिः! उच्छिष्ट आसनपर—उस आसनपर जिसपर तुम बैठ चुके हो, मैं कैसे बैठ सकता हूँ!'

अब सृष्टिकर्ता बड़े संकोचमें पड़े। वहाँ ऐसा तो कोई आसन नहीं था, जिसपर कभी कोई बैठा न हो। सोचकर ब्रह्माजीने कहा—'आप मेरी गोदमें विराजें।'

'हाँ!' उन्होंने स्वीकार कर लिया। ब्रह्माजी अपने आसनपर बैठ गये। उन्होंने कुशसे कमण्डलुका जल भली प्रकार ब्रह्मापर छिड़का और उनकी गोदमें बैठ गये। लेकिन बैठनेके क्षणभर पीछे ही बोले : देखो! तुम्हारी नासिकासे निकला अशुद्ध श्वास मेरा स्पर्श कर रहा है। इसे रोक लो!'

अब सृष्टिकर्ता घबराये। श्वास रोककर भला वे कितनी देर बैठ सकते थे। अब उन्हें लगा कि 'यह है कौन जो इतना पवित्र बनता है?' सिर बढ़ाकर उन्होंने ध्यानसे गोदमें बैठे व्यक्तिको देखा और तब हँसकर बोले—'बेटा दम्भ! तुम बहुत दिनोंपर यहाँ आये, अतः मैं तुम्हें पहचान नहीं सका।'

वात्सल्य

डा० मलिक मोहम्मद एम० ए०, एल-एल० बी०, पी-एच० डो०
हिन्दी विभाग, अलीगढ़ विश्वविद्यालय

★

'वात्सल्य' मानवकी मूल मनोवृत्तियोंमें एक है। वात्सल्यमें वत्सलताका भाव है। वत्सलता सामान्य-रूपसे संगति—प्रेमकी ओर संकेत करती है, परन्तु वास्तवमें हृदयकी जितनी सान्द्रता इस भावमें अभिव्यक्त होती है, उतनी दूसरे किसी भावमें नहीं। यह भाव कृष्णभक्तोंका सर्वस्व है, उनकी अपनी मौलिकता है। वात्सल्य-भावमें जिस विषयकी ओर संकेत है, वह भी अपनेमें अद्भुत है। यों तो माता तथा पिताका अपनी संततिसे प्रेम स्वाभाविक है। परन्तु वह सामान्योन्मुख प्रेम-वात्सल्यमें जहाँ एक ओर विषयेतर विरक्तिका भाव है, दूसरी ओर इसमें पूर्ण तन्मयता और समर्पणका भाव है। यही इस भावका वैशिष्ट्य है।

आलवार भक्तोंके तथा आलोच्य हिन्दी कृष्ण-भक्त कवियोंके काव्यमें वात्सल्य-भावका उच्चकोटिका चित्रण हुआ है। इन कवियों ने बाल-चेष्टा, बाल-स्वभावके सूक्ष्मसे सूक्ष्मतम चित्रण द्वारा वात्सल्यको रस-कोटितक पहुँचा दिया है। बाल-स्वभावकी द्योतक जो क्रिया अथवा चेष्टाएँ और बाल्यकालकी जो उमंग-भरी निश्छल तथा भोली क्रीडाएँ होती हैं, उन सबका विशद तथा अत्यन्त मनोवैज्ञानिक चित्रण इन कवियोंके काव्यमें हुआ है।

वात्सल्यका सजीव, सरस और आकर्षक वर्णन करनेमें हिन्दीके कृष्ण-भक्त कवियोंमें महात्मा सूरदासका स्थान सबसे उँचा है। बाल-वर्णनकी सजीवता, मार्मिकता और प्रभावोत्पादकताकी दृष्टिसे जो स्थान हिन्दीमें सूरको प्राप्त है, वह तमिलमें पेरियालवारको मिला है। तमिलमें पेरियालवार ही ऐसे प्रथम कवि हैं, जिन्होंने अत्यधिक विशाल पटलपर कृष्णको बाल-लीलाओंके सुन्दर चित्र

अंकित किये हैं। पेरियालवार (सातवीं शती) ने बाल-सुलभ चेष्टाओं और अन्तर्दशाओंका जैसा सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक चित्रण अपने काव्यमें प्रस्तुत किया है, वैसा आजतक तमिलमें कोई कवि प्रस्तुत नहीं कर सका। अपने आराध्यके बाल-रूपका वर्णन करनेकी जो पद्धति तमिलमें 'पिल्लै तमिल' के नामसे प्रसिद्ध है, उसके जन्म-दाता पेरियालवार ही हैं। पेरियालवारने अपने आराध्य लीला-नायक कृष्णकी बाल-चेष्टाओंका वय-विकासानुसार जो सूक्ष्म वर्णन प्रस्तुत किया, उसकी सजीवता और मार्मिकताको देखकर परवर्ती कवियोंने उस विशिष्ट पद्धतिको आदर्श-रूपमें अपनाया और उस शैलीको 'पिल्लै-तमिल'के नामसे अभिहित किया।

आलवारों तथा आलोच्य हिन्दी कवियों द्वारा अंकित बाल-स्वभाव चित्रोंके तुलनात्मक अध्ययनको प्रस्तुत करनेसे पहले यह आवश्यक प्रतीत होता है कि तमिलके पेरयालवारने 'पिल्लै-तमिल'की पद्धतिमें बाल-चेष्टाओंका वय-विकासानुसार जो मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है, उसका संक्षेपमें परिचय दिया जाय। तभी पेरियालवारके वास्तविक महत्त्वको जाना जा सकता है। पेरियालवारने दैवी-दानसे आण्डालको शिशु-रूपमें प्राप्त किया था और उसका पालन-पोषण किया था, शिशुकी बाल-चेष्टाओंका अत्यन्त निकटसे अवलोकन करनेके कारण ही पेरियालवारका बाल-वर्णन सजीव और मार्मिक बन सका है। यही कारण है कि उनके वात्सल्यमें कहीं भी कृत्रिमता दिखायी नहीं देती। पेरियालवारने अपने आराध्य लीला-नायक कृष्णके बाल्यकालको दस वय-खण्डोंमें विभाजितकर प्रत्येकमें होने-वाली विशिष्ट बाल-सुलभ-चेष्टाका चित्रण किया है, जो बाल-मनोविज्ञानकी कसोटीपर भी खरा उतरता है। 'पिल्लै-तमिल'में वर्णित दस वय-खण्ड इस प्रकार हैं—'काप्पु, चेंकीरै, ताल चप्पाणी, मुत्तम, वारानै, अम्बुलि, चिरुपरै, चिट्रिल, चिदैत्तल और चिरु-तेरो-ट्टल।' 'काप्पु' का अर्थ है 'रक्षा'। यह शिशुके दो मासकी अवस्थाको सूचित करता है।[1] माता कभी अपने बालकके साँवले रूपपर

1. "Koppu"—Section of pillai Tamil describing the stage of childhood in which deities beginning with Vishnu are invoked to protect the child in about 2nd month of its birth, one of the paruvaws"—Tamil Lexicon.

न्यौछावर होती है तो कभी दृष्टि लगनेके भयसे विश्वम्भरसे उसकी रक्षाकी प्रार्थना करती है। 'चेंकीरै परुत्रम' अथवा वय-खण्ड शिशुकी वह अवस्था है जब वह (चेंकीरै पौधेके समान) सिरको ऊपर उठाकर हिलाता है। यह शिशुकी वह चेष्टा है, जब कि उसकी अवस्था पाँच महीनेके लगभग होती है। 'ताल' वह वय-खण्ड है जब माता शिशुको पालनेमें लिटाकर लोरी गाकर उसे सुलाती है। शिशु लोरीकी मीठी तानके वशीभूत हो सो जाता है। 'चप्पाणी' अवस्थामें शिशु अपने दोनों हाथोंको मिलाकर ताली बजाता है और हर्षित होता है। 'मुत्तम' शिशुकी वह अवस्था है, जब कि वह दूसरोंकी प्रार्थना-पर चुम्बनके लिए अपने मुखको आगे बढ़ाता है। दूसरे लोग शिशु-चेहरेपर चुम्बनकर पुलकित होते हैं। 'वारानै' वह वय-खण्ड है, जब माता-पिता शिशुको अपने पास बुलाते हैं और शिशु घुटनोंके बलपर रेंगता हुआ उनके पास जाता है यह लगभग एक वर्षकी आयु है। 'अम्बुलि' में शिशुके चन्द-खिलौना माँगकर हठ करनेका वर्णन होता है। बालक रेंगता हुआ आँगनमें पहुँचता है और आकाश पर स्थित चन्द्रको देखकर उसे पकड़कर उसके साथ खेलना चाहता है। 'चिरुपरै' बालककी उस अवस्थाको सूचित करता है जब बालक आवाज पैदा करनेवाली चीजोंपर हाथ मारकर ध्वनि पैदा करता है और अस्पष्टरूपसे कुछ कहता है। 'चिट्रिल चिदैत्तल'में दूसरे बालकों या बालिकाओं द्वारा रेतपर या जमीनपर रेखाएँ खींचकर बनाये गये छोटे घरोंको बालकके द्वारा तोड़नेपर उन्हें चिढ़ानेका वर्णन होता है। 'चिरुते रोट्टल' अवस्थामें बालकमें खड़े होनेकी शक्ति आ जाती है। वह धीरे-धीरे चलने लगता है। इस अवस्थामें बालक छोटे रथ (लकड़ीसे बना खिलौना)को रस्सीसे बाँधकर उसे खींचता हुआ गलीमें चलने लगता है। पेरियालवारने इस प्रकार वय-विकासानुसार शिशुकी विभिन्न चेष्टाओंका मार्मिक वर्णन प्रस्तुत किया है, जो मनोवैज्ञानिक चित्रण प्रतीत होता है। इन बाल-चेष्टाओंके अतिरिक्त पेरियालवारने कृष्णकी पौगण्ड, किशोर-अवस्थाओंकी न जाने कितनी ही लीलाओंका वर्णन किया है। तमिलके आलवार भक्तोंमें केवल पेरियालवारने ही इतने विस्तारसे कृष्णके बालरूपका वर्णन किया है। कुलशेखरालवार, आण्डाल तथा अन्य आलवारोंके पदोंमें बाल प्रसंगोंकी ओर संकेतमात्र हैं।

हिन्दीके कृष्ण-भक्त-कवियोंने यद्यपि पेरियालवारकी तरह बाल-चेष्टाओंके वर्णनके लिए किसी एक विशिष्ट प्रणालीको नहीं अपनाया तो भी सूरदास, परमानन्ददास आदिके काव्यमें वे सब शैशवके चित्रण मिल जाते हैं, जो पेरियालवारके काव्यमें हैं। कहीं-कहीं तो सूर पेरियालवारसे भी आगे बढ़े हैं। तमिलके पेरियालवार और हिन्दीके सूरदास अपने-अपने क्षेत्रमें बाल-भावके अमर चितेरे हैं। इनके समकक्षका कवि अभीतक नहीं हुआ है। वात्सल्यकी अजस्र धारा इन दोनों कवियोंके काव्यमें प्रवहमान है।

बच्चोंकी अत्यन्त साधारण चेष्टाएँ भी माता-पिताके प्रमोदका कारण बन जाती हैं। यशोदारानी जब अपने नन्हे-से बालककी शिशु-सुलभ क्रीड़ाएँ देखती हैं, तब उनके आनन्दका ठिकाना नहीं रहता। सूरदासजीके शब्दोंमें—

चलत देखि जसुमति सुख पावै।
ठुमुकि-ठुमुकि पग धरती रेंगत, जननी देखि दिखावै।
देहरि लौं चलि जात, बहुरि फिरि-फिरि इतहीं कौं आवै।
× × ×
ताको लिए नंदकी रानी, नाना खेल खिलावै।
तब जसुमति कर टेकि स्याम कौं, क्रम-क्रम करि उतरावै।
सूरदास प्रभु देखि-देखि, सुर-नर-मुनि-बुद्धि भुलावै ॥[1]

बालक कृष्ण मणिमय आँगनमें अपने प्रतिबिम्बको पकड़नेकी कोशिशमें हैं। कभी वे अपनी छाँहको पकड़ना चाहते हैं और कभी किलक-किलककर अपनी दंतुलियोंका सौन्दर्य दिखाते हैं। यशोदा सुतकी क्रीड़ाओंको देखकर फूली नहीं समाती। बार-बार नन्दको इस सुखमें शामिल होनेके लिए बुलाती हैं।[2] पेरियालवार (यशोदाके

१. सूरसागर (ना० प्र० सभा), पद सं० ७४४, पृ० ३०३।
२. किलकत कान्ह घुटुरुवनि आवत।
मनिमय कनक नंद कैं आंगन बिंब पकरिबे धावत।
कबहुँ निरखि आपु छाँह कौं कर सौं पकरन चाहत।
किलकि हँसत राजत द्वै दँतियाँ, पुनि-पुनि तिहिं अवगाहत।
× × ×
बाल दसा सुख निरखि जसोदा, पुनि-पुनि नंद बुलावति।
—सूर सागर (सभा), पद सं० ७२५, पृ० २१९

स्थानपर) तो बालककी अनुपम छविको देखनेके लिए गोकुलके समस्त नर-नारीको बुलाते हैं और बाल-सौन्दर्यका नख-शिख वर्णन करते हैं। उल्लास पूर्ण शब्दोंमें वे कहते हैं—"आकर देखिये ! शिशु कितने भोलेपनके साथ अपने पैरकी उँगलियोंको मुँहमें लेकर चाटता है ? इसके पाद-कमलका सौन्दर्य देखिये—हे सुन्दर ललनाएँ ! इसके पैरकी उँगलियाँ इस प्रकार शोभित हैं, मानों मोती और रत्न एक सूत्रमें खचित हों। घुटनोंके बलपर आँगनमें रेंगनेवाले बच्चेका सौन्दर्य देखिये। कोमल नन्हें-नन्हें करोंकी अनुपम छवि देखिये। सुन्दर विकसित-सा मुख-कमलको आकर देखिये। नन्हेंके प्रकाश युक्त नयनोंको देखिये। पतली छोटी भृकुटियोंको देखिये। छोटे काले बालोंका सौन्दर्य देखिये।"[1]

भक्त प्रवर पेरियालवारने कृष्णको पालनेमें सुलानेके प्रसंगपर कई पद रचे हैं, जिनमें माता यशोदाके मातृ-हृदयका भाव सौन्दर्यपूर्ण प्रभाके साथ प्रकट हुआ है। पेरियालवारकी यशोदा प्रिय सुतको पालनेमें लिटाकर उन्हें सुलानेके लिए लोरी गाती हैं।[2] मोती तथा रत्नखचित सुन्दर पालनेको ब्रह्माने तुम्हारे लिए भेजा है। हे सुत ! 'तातेलो' (सो जाना), इन्द्रने भी तुम्हारे लिए किंकणी भेजी है।

---

१. पेदैक्कुलवी पिडित्तच्चुवैत्तुण्णुम
पाद कमलंकल काणीरे पवलवायीर ! वन्तु काणीरे।
—पेरियालवार तिरुमोली, १–२–१

२. मुत्तुम मणियुम वयिरमुम नन्पोन्नुम
तत्तिप्पतित्तु तलै पेइतार पोल एकुंम
पत्तु विरलुम मणिदण्णन पादंकल
ओत्तिहिरुन्तवा काणीरे ओण्णुदलीर। वन्तु काणीरे। —वही, १–२–२
पलन्ताम्पालोच्च पयताल तवलन्तान
मुलन्ताल इरुन्तवा काणीरे। मुकिल मुलैयीर। वन्तु काणीरे।
—वही, १–२–४

कण्कल इरुन्तवा काणीरे कनवलैयीर। वन्तु काणीरे।
—वही, १–२–१६

पुरुवम इरुन्तवा काणीरे, पूण मुलैयीर। वन्तु काणीरे।
—वही, १–२–१०

हे मेरे राजा ! देवताओंने तुम्हारे लिए सुन्दर-सुन्दर फूल चुनकर भेजे हैं। तुम रोओ मत। सो जाओ। भू देवी तुम्हारे लिए अंजन और सिन्दूर लेकर आयी हैं। हे नारायण ! 'ताले लो'—सो जाओ।'[1]

सूरका पद और भी सुन्दर है—

जसोदा हरि पालनैं झुलावै।
हलरावै, दुलराइ, मल्हावै जोई-सोई कछु गावै।
मेरे लाल कौं आउ निदरियाँ काहे न आनि सुवावै।
तू कहौं नहिं वेगहिं आवै, तोकौं कान्ह बुलावै।
कबहुँक पलक हरि मूँद लेत हैं, कबहुँ अधर फरकावै।
सोवत जानि मौन ह्वै कै रहि, करि-करि सैन बतावै।
इहिं अन्तर अकुलाइ उठे हरि, जसुमति मधुरैं गावै।
जो सुख सूर अमर-मुनि दुरलभ, सो नन्द भामिनि पावै॥[2]

इन पंक्तियोंमें कैसा स्वाभाविक तथा मनमोहक चित्र सूरने उपस्थित किया है।

पेरियालवारकी यशोदा अपनी सहेलियोंसे शिकायत करती हैं—'पालनेमें छोड़ो तो ऐसा पद-प्रहार करता है कि टूटनेका डर होने लगता है। गोदमें उठा लूँ तो कमर तोड़ देता है। छातीसे लगा लूँ तो पेट फाड़ देता है। मुझसे नहीं होती—इसकी सार-संभाल,

१. मणिक्कम कहि वयिरम इडैकहि
आणि पोन्नाल चेइत वण्णच्चिरु तो ट्टिल
पेणि पिरमन विट्टु तन्तान
मणिक्कुरलने। तालेलो। वैयमलन्ताने तालेलो।
इन्दिरन तानुम एलिलुडै किंकणी
तन्नु उवनाय निन्द्रान, तालेलो। तामरैक्कण्णने तालेलो।
चय्य तटंकण्णुक्कु अंजनमुय सिन्दूरमुम
वेय्य कलैप्पाकि कोण्डु उवलाय निन्द्राल
ऐया। अलैलं अलेल। तालेलो। अरगत्तणैयाने। तालेलो।
—पेरियालवार तिरुमोली १—३—१, ३ और ६
२. सूरसागर (ना० प्र० सभा), पद सं० ६६१, पृ० २८६।

सखी ! मैं क्या करूँ ?"[1] इस शिकायतमें भी माताकी ममता बोल रही है।

चन्द-खिलौनेका वर्णन दोनों भाषाओंके कवियोंने किया है। सूरके वाल-कृष्ण कहते हैं—

मैया, मैं तो चंद खिलोना लैहौं।
जैहों लोटि धरनि पर अबहीं, तेरी गोद न पेहौं।
सुरभी कौ पय पान न करिहौं, बेनी सिर न गुहैहौं।
ह्वै हौंपूत नंद बाबा कौ, तेरौ सुत न कहैहौं।[2]

× × ×

मैया री मैं चंद लहौंगौ।
कहा करौं जलपुट भीतर कौ, बाहर ब्यौकि गहौंगौ।
यह तौ झलमलात झकझोरत, कैसैं कै जु लहौंगौ।
वह तौ निपट निकट ही देखत, वर ज्यौ हौं न रहौंगौ।[3]

पेरियालवारकी यशोदा पुत्रकी माँगपर चन्द्रको सम्बोधितकर कहती हैं—'हे विशाल चन्द्र ! मेरा 'चिरुकुट्टन' (छोकरा) जो मेरे लिए अमृतके समान अमूल्य है, जो मेरा सौभाग्य है, अपने नन्हे कोमल करोंसे तुम्हारी ओर लक्षितकर तुम्हें बुला रहा है। यदि तुम इस श्याम वर्णवालेके साथ खेलना चाहते हो तो मेघोंके पीछे छिप मत जाओ। पर उछलते-कूदते आ जाओ।"[4] (पेरियालवारने

---

१. किटक्किल तोहिल किलिय उदैत्तिडुम
एडुत्तक्कोल्लिल मरुकँपिरुत्तिडुम
ओडुक्की पुल्किल उदस्ते पाइन्तिडुम
मिडुक्किलामैयाल नान मेलिन्तेन न नंकाम।"
—पेरियालवार तिरु

२. सूरसागर (ना० प्र० सभा०), पद सं० ८११, पृ० ३२७
३. वही (,,), पद सं० ८१२, पृ० ३२७
४. एन चिरुकुट्टन एनक्कोर इन्नमुदु एंपिरान
तन चिरु कैकळाल काट्टिकाट्टि यलैक्किट्रान
अंजन वण्णनोडु अडलाड उरुदियेल
मंजिल मरै यादे मचमाति। मकिलुन्तोडी वा।"
—पेरियालवार तिरुमोली, १-४-२

'चिरुकूट्टन' शब्दके प्रयोग द्वारा मानों वात्सल्य-रसकी धारा प्रवाहित की हो) माताका हृदय बच्चेको किंचित् भी कष्ट होते नहीं देख सकता। यशोदा चन्द्रसे कहती हैं—'हे चन्द, जल्दी आ जाओ ! देर मत करो जिससे इस विचित्र नन्हेंके चारु कर तुम्हें बुलाते थक न जायें।'[1] चन्द्रका सौन्दर्य भी माताके लिए अपने पुत्रके सौन्दर्यके सम्मुख कुछ भी नहीं है। यशोदा चन्द्रकी खिल्ली उड़ाती कहती हैं—'ज्योतिर्मय रथपर विराजमान होकर सर्वत्र प्रकाशमान चन्द्र ! क्या तुम्हारा सौन्दर्य मेरे सुतके मुखकी कान्तिकी बराबरी कर सकता है ? देखो—मेरे लालके सुन्दर मुखसे अमृत-सम लार टपक रही है और मेरा लाड़ला तोतली बोलीसे तुम्हें बुला रहा है। मेरे सर्व-प्रियके यों बुलानेपर भी तुम नहीं आओगे तो मैं तुम्हें बहरा ही समझूँगी।'[2] फिर वह चन्द्रसे प्रार्थना करती हैं—'मेरे लालको नींद आ रही है। वह जंभाई ले रहा है। यदि वह अब सो नहीं पायेगा तो उसका अभी पिया दूध नहीं पचेगा और पेटको बिगाड़ देगा। इसलिए तुम उसकी माँगपर जल्दी आ जाओ।'[3] जब चन्द्रपर माताके शब्दोंका असर पड़ता नहीं दीखता, तब वह उसे चेतावनी दे जाती हैं—'मेरे सुतका तिरस्कार मत करो कि यह छोटा बालक है। समझ लो, यह वह बालक है जो एक बार वट-पत्रपर सोया था।

---

१. एत्तनै चेइनुम एन मकन मुकम नेरोव्वाय
   वित्तकन वेंकटवाणन उन्नै विलिक्किन्ट्र
   कैत्तलम नोवामे अम्बुली। कडितोडी वा

—पेरियालवार तिरुमोली, १-४-३

२. अलकियवायिल अमुदवूरल तेलिवुरा
   मललैमुट्रात इलचोल्लाल उन्नै कुवुकिन्ट्रान
   कुलुकन सिरीदरन कूवक्कूव नी पोदियेल
   पुलै मिलवाकाते निनचेविकुकर मामती।

—वही, १-४-५

३. कण तुयिल कोल्लक्करुति कोहावी कोलकिन्ट्रान
   डएट मुलैप्पालराकण्टाडिरंकाविडिल
   विण्तमिल मन्नियमामती। विरैन्तोडी वा

—वही, १-४-६

यदि वह अपनी शक्ति दिखाना चाहे तो अभी उठकर तुम्हारे ऊपर कूदकर, तुम्हें पकड़ सकता है। अतः इस ओर जल्दी आ जाओ।"[1]

माता अपने बालकके साँवले रूपपर कभी न्यौछावर होती हैं, तो कभी दृष्टि लगनेके भयसे 'राई-नोंन' उतारती हैं। कभी विश्वम्भर-से रक्षाकी प्रार्थना करती हैं। परमानन्ददासका निम्नलिखित पद देखिये—

यह तन वारि डारौं कमल नयन पर सांवलिया मोहि भावै रे,
चरन कमलकी रेनु जसोदा लै लै सिरहिं चढ़ावै रे।
ले उछंग मुख निरखन लागी, रहि रहि लोंन उतारै रे,
कौन निरासी दृष्टि लगाई लै लै अँचर झारै रे।
तू मेरो बालक हो! नन्दनन्दन तोहि विसम्भर राखे रे,
'परमानन्द' स्वामी चिर जीवहु बार-बार यों भाखे रे।[2]

पेरियालवारकी यशोदा भी कृष्णको 'दृष्टि-दोष'से बचानेके लिए उसके हाथमें कंकण (मंत्र फूंककर कंकण पहनानेका रिवाज) पहनानेके लिए, अपने पास बुलाती हैं—"हे लाला! ऐसी गोधूलि बेलामें चौराहेपर मत जाओ। लोगोंकी नजर लग जायगी। मेरे पास आओ। 'दृष्टि-दोष' परिहारके लिए यह कंकण पहन लो।"[3]

कृष्णका उलट जाना, घुटनों चलना, देहली पार करना, यशोदा द्वारा चलना सीखना, डग-मगाकर चलना, फिर दौड़ने लगना, दूधके दाँत निकलना, तोतली बोली बोलना आदि उनके वय-विकासके साथ घटित होनेवाली अनेकानेक बातोंको तमिलमें पेरियालवारने तथा हिन्दीमें प्रमुख रूपसे सूरदास और परमानन्ददासने अत्यन्त स्वाभाविक और भावपूर्ण ढङ्गसे व्यक्त किया है। इस प्रकार इन कवियोंके बाल-जीवनके चित्रणमें सर्वाङ्गीणता और सम्पूर्णता पायी जाती है। पेरियालवार द्वारा अंकित बाल-कृष्णके कुछ चित्र देखिये :—

---

१. बालकनेन्ट्रु पैरिपवम चय्येल पण्टोरुनाल
अलिनिलै वलर्न्त चिरुक्कनवन इवन
मेलेलप्पाइन्नु पियुत्तक्कोल्लुम वेकुलुमेल
माले महियाते मामती। किलन्तोडी वा

—वही, १-४-७

२. अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय—पृ० ७०२ से उद्धृत।

३. पेरियालवार तिरुमोळी, २-८-२।

कान्हाका एक दाँत फूटा है और वह मधुर हँसी हँस रहा है। यशोदा उस छविको देखकर कहती हैं—'लालिम आकाशमें उगनेवाले तीजके चाँदकी नोंककी भाँति हँसनेवाले लाल-लाल नन्हें मुँहके अन्दरसे सुन्दर दन्त अंकुर फूट रहा है।'[1] बालक जब घुटनों चलता है, तब किंकणीकी ध्वनि निकलती है। माता बच्चेको अपने पीठसे लगाती हैं और स्पर्शमात्रसे पुलकित हो उठती है।[2] कान्हा धीरे-धीरे चलने लगा। यशोदा बैठी हैं। कान्हा खिल-खिलाकर हँसता हुआ आकर उनसे लिपट जाता है और उनसे प्यार करता है। उसके मुँहसे इक्षु-रस-सी लारकी धारा प्रवहमान है। वह शिशु-चुम्बन माँके हृदयमें अमृत प्रवाहित करता है।[3] बच्चेके विकासके प्रति माँके हृदयमें अदम्य उत्साह रहता है। उसकी समस्त क्रियाएँ और भावनाएँ उसीमें केन्द्रित हो जाती हैं। माँका प्रत्येक क्षण बालकके साथ कटता है।

बालक दूध पिये बिना ही रातको सो गया। माता यह प्रतीक्षा करती है कि वह स्वयं जागेगा। परन्तु बालक थकावटके कारण जागा नहीं। माँका हृदय यह मान नहीं सकता कि बच्चा भूखा सोये। पेरियालवारकी यशोदा बहुत चिन्तित होती हैं। सबेरा होते ही वह कृष्णको जगाती हैं। यह शंका करके कि दूध पिये बिना ही अन्य बालकोंके साथ खेलने चला न जाय, वह कृष्णसे कहती हैं—

---

१. चेक्करिडै नुनिकोंपिल तोन्ट्रुम चिरुपिरै मुलैंप्पोल।
नक्क चेन्तुवर वाइत्तिण्णै मीते नलिर वेप्पल मुलै यिलक।
—पेरियालवार तिरुमोली, १–७–२

२. किंकणी कट्टि किरि कट्टि कैयिनिल।
कंकण मिट्टु कलुत्तिल तोटर चुट्टि।
तन कणत्ताले चतिराट नडन्तु वन्तु।
एन कण्णन एन्नै पुरम पूल्कुवान।
—पेरियालवार तिरुमोली, १-७-२

३. कन्नकुंटम तिरन्तालोत्तूरी कण-कण चिरत्तु वन्तु।
मुन वन्तु निन्ट्रु मुत्तम तरुम एन मुकिल वण्णन तिरुमावन।
—वही, १-७-४

'लाला, तू भूखा खेलने मत जा। दूध पीकर जाना।'[1] खेलकर कृष्ण धूल-धूसरित होकर लौटता है। उसके चेहरेपर पसीनेकी नन्हीं बूँदें मानों मोतीके समान शोभित हों।[2]

कृष्ण द्वारा दूसरोंको 'हाऊ' का भय दिखानेका पेरियालवारनें बड़ा ही सरस चित्रण किया है। कृष्ण जल्दीसे आँखें खोल-खोलकर बन्द करता है। हाथकी उँलियोंको एक विचित्र प्रकारसे रखकर, कुछ विचित्र ध्वनियाँ पैदाकर दूसरोंको 'भय' दिखाता है। यशोदा बच्चेको देखकर फूली नहीं समातीं।'[3]

बाल-सुलभ चेष्टाओंका वर्णन करनेमें अष्टछापके सूरदास और परमानन्ददासने अद्भुत सूक्ष्मता प्रदर्शित की है। इनके पदोंकी विशेषता यह है कि वे हमारे कल्पना-जगत्में भी थोड़ी देरके लिए उसी वात्सल्य-भावका वातावरण और चल-चित्र उपस्थित कर देते हैं।

धूल-धूसरित कृष्णका सूरने बहुत ही सुन्दर चित्र अंकित किया है—

सोभित कर नवनीत लिये।
घुटरुनि चलत रेनु-तन-मंडित, मुख दधि लेप किये।

बच्चेको दूध न पीता हुआ देखकर समवयस्कोंके प्रति उसके स्पर्धाके भावको उद्बुद्धकर दूध पिलाती हुई माताका चित्र देखिये :

कजरी कौ पय पियहु लाल, जासौं तेरी बेनि बढ़ै।
जैसैं देखि ब्रज बालक, त्यौं बल-बैस चढ़ै॥
यह सुनि कै हरि पीवन लागे, ज्यौं-ज्यौं लढ़ै।[4]

---

१. अखणैयाय। आयरेरे। अम्ममुण्ण तुयिलेलाये।
इखु मुण्णादु एरंकि पोय इन्द्रु मुन्चिच कोण्टतालो।
—वही, २-२-१

२. अंकमलप्पोदकत्तिल अणिकोल मुत्तम चिन्तिनार पोल।
चेंकमल मुखम वियर्प्पं..
अंकमेल्लाम पुलु दियाल अलैय वेण्टा अम्मा। विम्म
अकमरक्कुमुदालित्त अमरर कोवे। मुलैयुणाये।
—वही, २-२-९

३. पेरियालवार तिरुमोली २-१-१ से १०।

४. सूरसागर (ना० प्र० सभा), पद सं० ७९२, पृ० ३१९।

बच्चोंके नामकरण और अन्नप्राशन आदि संस्कारोंके अवसरपर माताका हृदय फूला नहीं समाता। कनछेदनमें उसके हृदयमें मोदके साथ धुक-धुकी भी होती रहती है, उसके बच्चेको कान छिदानेमें कष्ट भी तो होगा और जब कान छेंदे गये तो यशोदाकी क्या दशा थी :

लोचन दोऊ भरि-भरि माता कनछेद देखत जिय मुरुकी।[1]

पेरियालवारने भी कनछेदन-प्रसंगका वर्णन किया है। बच्चोंसे कोई कार्य करवानेके लिए साधारणत: या तो उनकी प्रशंसा की जाती है या उन्हें मिठाई या पकवान खिलानेका प्रलोभन दिया जाता है। 'कनछेदन'के कष्टसे कृष्ण भयभीत होकर भाग न जाय, इसके लिए पेरियालवारकी यशोदा कान्हसे कहती हैं—'हे, लाल! मैं तुम्हारी माँगी सभी चीजें दूँगी। आज तुम कनछेदन करा लो। तुम्हें मीठे-मीठे फल खिलाऊँगी, मीठे पकवान खिलाउँगी। यहाँ पेरियालवार यशोदाके द्वारा फलों और पकवानोंकी एक लम्बी सूची दे देते हैं। तुम्हारे कानोंमें सुन्दर गहने पहनाऊँगी। देखो! तुम्हारे जैसे सभी बालक कनछेदनकर गहने पहने हुए हैं, तुम भी पहन लो।[2]

बालक कृष्ण ज्यों-ज्यों बड़ा होता है, उसकी लीलाएँ भी व्यापक होती जाती हैं। कृष्णके जन्मके बाद यशोदाके घरमें न घी कहीं

---

१. सूरसागर (ना० प्र० सभा), पद सं० ७९८, पृ० ३२१।

२. वेय्यवे कादिल तिरि इडुवन।
 नी वेंण्यितेल्लाम तरुवन।

—पेरियालवार तिरुमोली, २–३–३

इनिय पलाप्पलम तन्तु···

—वही, २–३–४

पेर्त्तुम पेरिय अप्पम तरुवन।
पिराने। तिरि इड वोट्टिल···

—वही, २–३–५

चेरियिल ढिल्ले कल्लेल्लाम कादु :
पेरुक्कि हि रियवुम काएटी···

—वही, २–३–१०

सुरक्षित रह पाता, न दूध, न मक्खन।[1] कृष्ण पड़ोसके बच्चोंसे झगड़ाकर चुपकेसे चला आता है। पड़ोसिनें अपने बाल-बच्चोंको साथ लेकर यशोदाको घेर लेती हैं और शिकायत करती हैं। उधर यशोदा इस हो-हल्लेसे परेशान हो रही हैं और इधर महाशय इसका मजा लेते हुए हँस रहे हैं।

शामको गायें घर लौटती हैं और दूध दुहनेके लिए बछड़े खोल दिये जाते हैं। पर कृष्ण नहीं मानता। वह चिउँटियाँ पकड़-पकड़कर बछड़ोंके कानोंमें डाल देता है और वे घबराकर भाग जाते हैं। तो यशोदा कहती हैं—'अब मुझे मक्खन मिल चुका।'[2] कृष्ण दूसरे बच्चोंकी आँखोंमें धूल झोंककर दौड़ पड़ता है।[3] वह पड़ोसके घरोंसे मक्खन चुराकर ही नहीं खाता, बल्कि खानेके बाद खाली घड़ोंको पत्थरपर दे मारता है और उनके टूटकर बिखरनेकी आवाजपर खुश होकर तालियाँ बजाता हुआ नाच उठता है।[4] गोपियाँ इन बातोंकी शिकायत यशोदासे आकर करती हैं।

सूरदास और परमानन्ददासने भी कृष्णकी हरकतोंका बड़ा ही रसपूर्ण वर्णन किया है। सूरदासके वे पद जिनमें कृष्ण यशोदासे शिकायत करते चित्रित हैं—साहित्यमें बेजोड़ हैं। उस प्रकारके चित्र पेरियालवारके पदोंमें भी देखनेको नहीं मिलते। वैसे तो सूरका कृष्ण यशोदासे कई प्रकारकी शिकायतें करता है। माताके कथनके अनुसार दूध पीनेपर भी जब बाल बहुत दिनतक नहीं बढ़े, तब कृष्ण मातासे रूठकर कहता है—

---

१. करंत नपालुम तयिरुम कडैन्नु उरिमेल वैत्त वेएणेय।
पिरन्ततुवे मुदलाक पेट्रियिं एंपिराने।

२. कन्ट्रक्लोटच्चेविधिल कट्टं रुम्पु पिडित्तिछ्टाल।
तेन्ट्रिक्केडुमाकिल वेएणेय तिरट्टी विलुं कुमाकाएपन।

—वही, २-४-२

३. कण्णिल मणल कोडु तूवी कालिनाल पाइन्तनैयन्ट्र।
एण्णरूम पिल्लैद्धल वन्तु इन्नराल मुरैप्पडुकिन्ट्रार॥

—पेरियालवार तिरुमोली, २-८-२

४. 'वेएणेय विलुंकी वेरूकंलत्तै वेपिडे इट्टु अहनोचै केट्कुमा।
कण्णपिरान कट्ट कल्वितनै काक्कलिल्लोम उनमकनै कावाय॥

—वही, २-९-१

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी?
किती बार मोहिं दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी॥
तू जो कहति बल की बैनी, ज्यों ह्वै है लाँबी-मोटी।
काढ़त-गुहत न्हावत जैहै नागिन सी भुइँ लोटी॥
काचो दूध पियावति पचि-पचि, देति न माखन-रोटी।
सूरज चिरजीवौ दोउ भैया, हरि-हलधर की जोटी॥[1]

जब कृष्ण गोप-बालकोंके साथ खेलता रहता है तब बलराम उसे चिढ़ाता है। इसपर कृष्ण यशोदासे इस प्रकार शिकायत करता है—

मैया मोहिं दाऊ बहुत खिझायौ।
मोसौं कहत मोल कौ लीन्हौं, तू जसुमति कब जायौ?
कहाँ करौं इहि रिस के मारैं खेलन हौं नहिं जात।
पुनि-पुनि कहत कौन है माता, को है तेरौ तात॥
गोरे नन्द, जसोदा गोरी, तू कत स्यामल गात।
चुटकी दै-दै ग्वाल नचावत, हँसत सबै मुसकात।
तू मोहि कौं मारन सीखी, दाऊहिं कबहुँ न खीझै॥[2]

कृष्णकी इन शिकायतोंमें कितना भोलापन है! कृष्ण द्वारा चोरी करनेका वर्णन दोनों भाषाके कवियोंने विस्तारसे किया है। पेरियालवारके कुछ पदोंका सारमात्र यहाँ देते हैं। कृष्णके उत्पातोंकी गोपियाँ यशोदासे शिकायत करती हैं—'मैंने मटकीमें मक्खन भर रखा था। सुबह होते ही तुम्हारे सुतने आकर सब कुछ खा लिया। यही नहीं, खाली मटकीको पत्थरपर मारकर उसके टूटकर बिखरनेकी आवाजपर तालियाँ बजाता है।'[3]—(दूसरी गोपी कहती है)—आज पूजनके लिए लड्डू, मीठे चावल, खीर आदिके नैवेद्य मैंने रखा था। तुम्हारे पुत्रने आकर सब कुछ खा लिया। यही नहीं, और

१. सूरसागर (ना० प्र० सभा), पद सं ७९३, पृ० ३२०।
२. वही (,,), पद सं० ८३३, पृ० ३३३-३४।
३. पेरियालवार तिरुमोली, २-९-१

भी माँगता हैं।[1] (तीसरी गोपी कहती है)—मैं मीठे पकवान बनाकर घरमें रखकर थोड़ी देरके लिए बाहर गयी। तुम्हारे सुतने मेरे घरके बालककी तरह चुपकेसे अन्दर घुसकर सब कुछ खा लिया।[2] (चौथी गोपी कहती है)—तुम्हारा लाडला मेरे घरके अन्दर बैठी तेरी बच्चीके हाथसे कंकण चुरा ले गया है और उसे बेचकर जामुन फल खरीदता है।[3]

कविवर परमानन्ददासने यशोदासे गोपियोंकी शिकायतोंका वर्णन किया है। पेरियालवारके पदसे परमानन्ददासके निम्नलिखित पदका भाव-साम्य देखिये—

जसोदा चंचल तेरो पूत।
आनंद्यो व्रज बीथिन डोलत करै अटपटे सूर॥
दह्यो दूध लै घृत आगे करि जहँ तहँ धर्यो दुराय।
अंधियारे घर कोउ न जाने तहँ पहले ही जाय॥
गोरसके भाजन सब भाजन फोरै माखन खाय चुराय।
लरिकनके कर कान मरोरत तहँ ते चलै रुवाय॥
बाँट देत बनचर कौतुक करत विनोद विचार।
'परमानन्द' प्रभु गोपी वल्लभ भावै मदन मुरार॥[4]

दूसरोंके सामने मातृ-हृदय अपने बच्चेका अपराध स्वीकार नहीं कर सकता। सूरके निम्नलिखित पद देखिये :—

---

१. चेन्नेलरिसि चिरु परुप्पु चेइल अक्कारम नरु नेइ पालाल।
पन्निरएट्टु तिरुवोणम अट्टेन पएठुम इप्पिलै परिचेरिवन।
इन्नमुकप्पन नानेन्ट्रु चोलूली एल्लाम विलुंकिट्टु पोन्तु निन्ट्रान।
—पेरियालवार तिरुमोली, २-९-७

२. कन्नलिलट्टु वत्तोडु कारेल्लु रुएटे कलत्तिट्टु।
एन्न कमेन्ट्रु नानवैत्तु पोन्तेन, इवन पुक्कु अवट्रै पेरुत्ति पोन्तान।
—वही- २-९-४

३. इल्लम पुकुन्तु एन मकलै कूथी कैपिल वलैयै कलट्रिकोएट्।
आकोरुत्तिक्कु अव्वलै कोंडुत्तु नल्ल नावंपल कल कोएट्।
नालल्ल चिरिविकन्ट्राने................................."
—वही, २-९-१०

४. परमानन्दसागर (सं० डा० गो० ना० शुक्ल), पद सं० १२४, पृ० ४५

री गोपाल तनक सौ, कहा करि जानै दधिकी चोरी।
हाथ नचावत आवति ग्वारिनि, जीभ करै किन थोरी॥
कब सीकैं चढ़ि माखन खायौ, कब दधि-मटुकी फोरी।
अंगुरी करि कबहुँ नहिं चाखत घर ही भरी कमोरी॥[1]

× × ×

कहन लगी अब बढ़ि-बढ़ि बात।
ढोटा मेरौ तुमहिं बधायौ तनकहिं माखन खात।
अब मोहि माखन देति मँगाए, मेरै घर कुछ नाहिं॥[2]

पेरियालवारकी यशोदा गोपियोंकी शिकायतोंपर अपने पुत्रको समझाती हैं—हे कृष्ण! इस गोकुलमें हजारों लड़के हैं। वे जो हरकतें करें, वे कभी सामने नहीं आतीं। ये गोपियाँ उन सबके अपराधोंको भी तुम्हारे ऊपर लादना ही जानती हैं। अतः तुम इनसे सावधान रहो।[3]

वात्सल्य संयोग-पक्षके साथ वियोग-पक्षके भी अति सुन्दर चित्र हमारे कृष्ण-भक्त-कवियोंने खींचे हैं। माता यशोदाके लिए एक क्षणका पुत्र-वियोग भी असह्य हो जाता है। यशोदा पहली बार कृष्णको वनमें गायें चरानेके लिए भेजती हैं। कृष्णके न लौटनेपर यशोदाकी चिन्ता और घबराहटका हृदय-द्रावक वर्णन पेरियालवारने प्रस्तुत किया है :—

'अपने प्रिय सुतको यहाँ खेलते हुए देखनेके बदले मैंने बड़े सबेरे ही स्नान कराकर वन भेज दिया। बनमें उसके मृदुल चरण बहुत ही दुखेंगे। उसको मैंने कितना कष्ट दिया। मैं पापिनी हूँ।[4]...भले ही गोपियाँ आकर कृष्णकी हरकतोंकी शिकायत करें, मुझे कभी अपने

---

१. सूरसागर (सभा), पद सं० ९११
२. वही ,, , पद सं० ९७३
३. पल्लायिखर इब्बूरिल पिल्लै कल तीमैकल चेइवार।
एल्लाम उन्मेलन्ट्री पोकातु एम्पिरान। इके वाराय॥
—पेरियालवार तिरुमोली, २-८-५
१. अंजनवण्णनै आपर कोलक्कोलुन्तिनै।
मंजनमाट्टी मनैकल तोरुम चिरियामे॥
—पेरियालवार तिरुमोली, ३-२-१

सुतको गायें चराने भयानक वनमें नहीं भेजना चाहिए था। मैंने कैसी निर्दयता दिखायी है! सुतको मैंने छतरी और जूतेतक नहीं दिये। वह वनमें कितना कष्ट भोगेगा ?"[२] इस तरहकी कितनी ही भाव-तरंगें, मातृ-हृदयमें उठती हैं। पुत्रके वियोगमें सारा वातावरण माताको सूना-सूना दीखता है।

आलवार भक्तोंके काव्यमें वियोग वात्सल्यको प्रदर्शित करनेवाला और एक महत्त्वपूर्ण प्रसंग है। नन्द और यशोदाकी वात्सल्यमयी भाववृत्तिका निरूपण तो बाल-कृष्णके उपासक भक्त कवियों द्वारा प्रायः किया गया है। किन्तु वसुदेव और देवकीके हृदयकी भावनाओं को मर्मस्पर्शी आलेखन तमिल-कृष्ण-काव्यकी एक विशेषता कहा जा सकता है। हिन्दीके कवियोंकी तरह नन्द-यशोदाके हृदयकी अभि-व्यक्ति तक ही अपनेको सीमित रखकर आलवारोंने वसुदेव और देवकीके मनो-भावोंकी उपेक्षा नहीं की है। हिन्दीमें सूरदासजी तकने कृष्णके ऐश्वर्य-ज्ञानसे देवकीके हृदयके सहज मातृत्वको अभिभूत करके उनके प्रति एक प्रकारका उपेक्षा-भाव ही दिखाया है। तमिलके कुलशेखरालवारने प्रमुख रूपसे देवकीकी मर्म-व्यथाको पहचाना है और उसे पर्याप्त भावावेगके साथ अभिव्यक्ति भी प्रदान की है। देवकीका सबसे बड़ा दुःख यह है कि पुत्र तो उसने जाया, पर उत्सव और बधाई यशोदाके द्वारपर होगी। माता होकर भी उसे मातृत्वके अधिकारों और सुखोंसे वंचित रहना पड़ा है। देवकीकी मर्म-व्यथाको कुलशेखरालवारके शब्दोंमें अभिव्यक्ति मिली है—

'मैं बड़ी अभागिनी हूँ। अपने पुत्रको पालनेमें लिटाकर लोरी गाकर सुलानेका भाग्य मुझे प्राप्त नहीं हुआ।'—सुन्दर शिशुको अपने हाथोंमें लेकर छातीसे लगाकर आनन्दित होनेका भाग्य मुझे प्राप्त

---

१. वण्णधकरुकुलल मादरवन्तु अलर तूत्रिड़।
पाएिण्प्पल चेइतु इप्पिर्डियेंकुम तिरियामे ॥
—वही, ३-२-४

२. एलवार कुललेन मकन तालेलो एन्ड्रेन्टु उन्नै एन वायिडै निरैय।
मालोलित्तिडुम तिरुविनैयिल्ला तायरिल कडैयायि वाये।
—पेरुमाल तिरुमोली, ७-१

नहीं हुआ।[1] यशोदाके यह पूछनेपर कि तुम्हारा 'बावा' कहाँ है, मेरा सुत अपनी कोमल उङ्गलियोंसे नन्दकी ओर लक्षित करेगा। उस समय नन्दको जो आनन्द प्राप्त होगा, उससे मेरे पतिदेव भी वंचित रहे।[2]...बालककी विविध चेष्टाओंको देखकर आनन्द प्राप्त करनेसे मैं वंचित रह गयी। मैं बड़ी अभागिनी हूँ।

कुडैयुम चेरुप्पुम कोडाते दामोदरनै नान।
उडैयुम कडियन ऊन्द्रु वेंपरकलुडै।
कडिय वेंकानिडै कालडी नोवक्कन्ट्रिन पिन।
कोडियेन एन पिल्लैये पोक्किलेन एल्ले पावमे।

—पेरियालवार तिरुमोली, ३-२-९

हे कृष्ण! तुम्हारी तोतली बोलीको सुनकर आनन्दसे तुम्हारे चेहरेपर चुम्बन अंकित करनेका भाग्य यशोदाको ही प्राप्त है।[3]...जब बालक धूल-धूसरित शरीरसे दौड़ता हुआ आकर पीछेसे लग जायगा, तो उसके स्पर्शमात्रसे कितना आनन्द प्राप्त होगा! हाय! मैं बड़ी अभागिनी हूँ। हे कृष्ण! तुम्हारे खानेके पश्चात् रहनेवाली अमृत-सम जूठनको खानेका भाग्य मुझे प्राप्त नहीं है।[4] तुम्हारे सौन्दर्य,

---

१. अडक्कियार चेंचिरु विरलनैत्तुम अंकैयोडु अणैन्तु आनैयिक्किडन्त।
किडक्कै कण्टिडपेट्रिलेन अन्तो! केशवा। केडुवेने केडुवेने।

—वही, ७-२

२. उन्तत्तैयावनेन्ट्रु रैप्प निन चेकेल विरलितुम कडैकणिणनुम काट्ट।
नन्दन पेट्रनन नल्विनैयिल्ला नंकलकोन वसुदेवन पेट्रिलन।

—वही, ७-३

३. इलमैं इन्पत्तै इन्ट्रु एन तन कण्णाल परुकुवेंकु इवल तायेन निनैन्त।
अलविल पिल्लैयिन्पत्तै यिलन्त पावियेनेनतावी निल्लादे।
मरुवुम निन तिरु नेट्रियिल चुट्टिमचैन्नाडी मणिवायिडै मुत्तम।
तरुतलुम...तिरुविलेन ओन्ट्रम पेट्रिलेन एल्लाम देव नंकै यशोदै पेट्राले।

—वही, ७-४ और ५

४. तण्णन्तामरै कण्णने। कण्णा। तवलन्तेलुन्तु तलंन्तोर नडैयाल।
मण्णल चेंपोडीयाडी वन्तु एन तन मार्विल मन्निप्पेट्रिलेन अन्तो।
वण्णंचेंचिरु कै विरलनैत्तुम वारिवाय कोण्ट अडिचिलिन मिच्चिल।
उण्णप्पेट्रिलेन ओ। कोडु विनियेन एन्नै चेय्य पेट्रंतु एम्माये।

—वही, ७-६

तुम्हारी चेष्टाओंको देखकर पुलकित होनेका भाग्य मुझे प्राप्त नहीं। मैं बड़ी अभागिनी हूँ।'

कुलशेखरालवारके 'देवकी-विलाप'के पदोंमें भावातिरेकका अधिक स्वाभाविक चित्रण उपलब्ध होता है। पुत्र-वियोगमें देवकीकी मानसिक दशाका चित्रण करनेमें कुलशेखरालवारने असीम भावुकता एवं कुशलताका परिचय दिया है।

कृष्णके मथुरा चले जानेपर यशोदा और नन्दकी मनोदशाको चित्रित करनेवाले अनेक सुन्दर पद हिन्दीके कृष्ण-भक्त-कवियोंने गाये हैं। आलवार भक्तोंके उपलब्ध पदोंमें ऐसे पद कम हैं या नहींके बराबर हैं, जो कृष्णके मथुरा चले जानेपर यशोदा और नन्दकी भाव-स्थितिका वर्णन करते हैं। (हो सकता है कि ऐसे पद भी उन्होंने गाये हों और वे नष्ट हो गये हों।) परन्तु हिन्दीके कृष्ण-भक्त-कवियोंमें—विशेषकर सूरने कृष्णसे बिछुड़नेपर यशोदा और नन्दके हृदयके भावोंको तरंगित करनेमें अतुलनीय सफलता प्राप्त की है।

अक्रूर मथुरासे कृष्ण और बलरामको लेने आये हैं। यशोदा, पुत्रोंके मथुरा-गमनकी बात सुनते ही व्याकुल हो गयीं। जब अनुभव करती हैं कि कृष्ण अक्रूरके साथ चले ही जायेंगे, तो हताश होकर कहने लगती हैं—

जसोदा बार-बार यों भाषै।
है कोउ ब्रजमें हितू हमारो, चलत गोपालहिं राखै।
कहा करै मेरे छगन मगनकों नृप मधुपुरी बुलायौ।
सुफलक सुत मेरे प्राण हतनकों काल रूप ह्वै आयौ।
बरु ए गोधन हरौ कंस सब मोहि, बन्दि लै मेलौ।
इतने ही सुख कमल नैन मेरी अँखियन आगे खेलौ।[1]

जब कृष्ण मथुरा जानेके लिए रथपर आरूढ़ हो गये, तब यशोदा जो विलाप करती हैं, वह अतीव मर्मस्पर्शी है।

मोहन नेकु बदन तन हेरौ।
राखौ मोहि नात जननी कौ मदन गुपाल लाल मुख फेरौ।
पीछे चढ़ौं विमान मनोहर, बहुरौ यदुपति, होत अन्धेरौ।
बिछुरत भेंट देहु ठाडै ह्वै, निरखौं घोष जनम कौ खेरौ।[2]

---

१. सूरसागर (सभा), पद सं० ३५९१, पृ० १२७३
२. वही (,,), पद सं० ३६०८, पृ० १२७८

जब नन्द मथुरासे लौट आये, तब उनके साथ कृष्ण और बलरामको न देखकर यशोदा वैसे ही मूर्छित होकर गिर पड़ीं, जैसे तुषारके पड़नेसे सरोवरका कमल कुम्हला जाता है। यशोदा नन्दपर भी बिगड़ीं और दशरथका उदाहरण देकर उन्हें धिक्कारने लगीं।[1] नन्द भी यह सुनकर व्याकुल हो गये और मूर्छित होकर गिर पड़े। सूरने बाल-स्नेहमें माता-पिता—दोनोंको ही विभोर कर दिया।

कभी नन्द-योशोदासे कहते हैं—
तव मारवोई करति रिसनि।
आगे कहि जो आवत अब लै भांडे भरति।'
कभी यशोदा-नन्दसे कहती हैं—
'सूर नन्द फिर जाहु मधुपुरी सुतकरि कोटि जतन।'

और—

नन्द ब्रज लीजै ठोंकि बजाइ।
देहु विदा, मिलि जाहिं मधुपुरी जहँ गोकुल के राइ।[2]

यशोदाको पुत्र वियोग इतना अखर रहा है कि वह ब्रज छोड़कर मथुरामें देवकी और वसुदेवकी दासी बनकर रहनेको तैयार हैं। प्रेममें आत्म-विस्मृतिकी भावना गहरी हो जाती है और मिलनकी उत्सुकताका उद्रेक समस्त भावोंको तिरोभूत कर देता है —

हौं तो माई मथुरा ही पै जैहौं।
दासी ह्वै वसुदेव राइ की, दरसन देखत रैहौं।
मोहि देखि कै लोग हँसैगे, अरु किन कान्ह हँसै।
सूर असीस जाइ दैहौं, जनि न्हातहु बार खसै॥[3]

---

१. वेदनाके आधिक्यके कारण यशोदा इस वातको भूल जाती हैं कि स्वयं नन्द भी विवश हैं और उनकी भी वैसी दशा है। वह उन्हें जीभर बुरा-भला कहती हैं—

जसुदा कान्ह-कान्ह कै बूझै।
फूटि न गईं तुम्हारी चारौं, कैसे मारग सूझै॥—आदि।

—सूरसागर, पद सं० ३७५२

२. सूरसागर, पद सं० ३७८६, पृ० १३४१।

३. सूरसागर, (सभा), पद सं० ३७८८, पृ० १३४१।

केवल वही

एक वैद्यके लिए रस सिन्दूर और चन्द्रोदयमें जो है; सन्तके लिए एक चुटकी राख और धूलमें भी वही है।

एक श्रद्धालुकी दृष्टिसे शालग्राम और नर्मदेश्वरमें जो कुछ है; तत्त्वज्ञकी दृष्टिमें मिट्टीके एक डलेमें भी वही है।

अन्तिम शब्दोंमें मातृ-हृदयका समूचा वात्सल्य मानों एक बारगी उमड़ पड़ा है—पुत्र कहीं भी हो, सकुशल रहे, यही माताकी कामना है।

पुत्रके प्रिय खाद्य पदार्थोंको देखते ही उसकी याद आ जाना स्वाभाविक ही है। माताको यह भी विश्वास नहीं होता कि उसके बिना अन्य कोई उसके पुत्रके खाने-पीने आदिकी समुचित व्यवस्था कर सकता है। यह अविश्वास वात्सल्य जनित ही है।

जद्यपि मन समुझावत लोग।
सूल होत नवनीत देखि मेरे मोहन के मुख जोग॥
प्रातकाल उठि माखन-रोटी, को बिनु माँगे दैहै।
को मेरे वा कान्ह कुँवर कौं छिनु अंकम लैहै॥[1]

मथुराको जाता हुआ कोई पथिक मिल जाता है, तो यशोदा उससे कहती हैं कि कृष्ण बड़ा संकोची है, देवकीसे माँगनेमें उसे लज्जाका अनुभव होगा। अतः देवकीके पास मेरा संदेश पहुँचा दो :—

संदेसौ देवकी सौं कहियौ।
हौं तो धाय तिहारे सुत की, दया करति ही रहियौ॥
जदपि टेव तुम जानति उनकी, तऊ मोहिं कहि आवै!
प्रात होत मेरे लाल लड़ैतें, माखन रोटी भावै॥
जोइ-जोइ माँगत सोइ-सोइ देत, क्रम क्रम करिकै न्हावै।[2]

सूरके उपर्युक्त पदमें माता यशोदाकी लालसाके साथ उनका दैन्य भी प्रकट हुआ है।

---

१. सूरसागर (सभा), पद सं० ३७१, पृ० १३४२
२. वही (सभा), पद सं० १०८३, पृ० १३४३

श्री सदाशिवेन्द्र सरस्वती : जीवन वृत्त

मूल अंग्रेजी लेखक : टी० के० बालसुब्रह्मण्यम्

अनुवादक : श्री राम शर्मा, एम० ए०

दक्षिण भारतके राजयोगियोंकी परम्परामें अन्तिम प्रामाणिक प्रतिनिधिके रूपमें सदाशिवेन्द्र सरस्वती अथवा सदाशिव ब्रह्मका प्रात:स्मरणीय नाम सुविख्यात है। १८ वीं शताब्दीके प्रारम्भमें, करूर नगरके निकट आप एक महान् संन्यासीके रूपमें रहते थे। आपके जीवनसे अनेक चमत्कारी एवं रहस्यपूर्ण घटनाएँ जुड़ी हुई हैं, जिनमें-से अधिकांशके सत्य होनेमें संशय नहीं किया जा सकता। शृंगेरी मठके श्रीसच्चिदानन्द नृसिंह भारती स्वामी योगिराजके प्रति गहरी भक्ति रखते थे। आप जब योगिराजकी समाधिका दर्शन करने नेरूर गये तो मार्गमें आपने भावपूर्ण स्तोत्रोंकी रचना की; जो 'सदाशिवेन्द्र-स्तुति' नामक लघु किन्तु बहुमूल्य पुस्तिकाके रूपमें विख्यात है।

अपने छात्र-जीवनमें सदाशिव बहुत ही तेजस्वी एवं प्रतिभाशाली थे। तंजोर जिलेमें पुण्य-सलिला कावेरीके तटपर तिरुविसनल्लुर नामक ग्राममें नारियल एवं आम्र-वृक्षोंके झुरमुटोंमें सदाशिवके छात्र-जीवनका संस्कार हुआ था।

यह सौभाग्यशाली ग्राम अनेक प्रसिद्ध गुरुजन एवं शिष्योंकी क्रीड़ा-स्थली रहा। रामभद्र दीक्षित नामक प्रख्यात विद्वान् इसी ग्राममें निवास कर रहे थे। अपने 'जानकी-परिणय' नामक प्रसिद्ध नाटककी रचना की थी। इसी समय यहाँ श्री वेंकटेश जी अपनी युवावस्था व्यतीत कर रहे थे, जो समयके परिपाकके साथ ही प्रभावशाली वक्ता एवं लेखकके रूपमें प्रकट हुए। आपकी सच्चरित्रता एवं भावुक विचार-शैलीके कारण आपकी कीर्ति 'दिव्य महात्मा'के नामसे अक्षुण्ण हो गयी। आख्याषष्ठि एवं दयाशतक आदि ग्रन्थोंने आपके यशको समुज्जवल किया। दक्षिण भारतमें आपको आज भी हजारों भक्त 'अय्यवल'की सम्मानित उपाधिके द्वारा प्रेमपूर्वक स्मरण करते हैं। इन्हीं दिनों यहाँ गोपालकृष्ण अध्ययन कर रहे थे जो आगे चलकर महाभाष्यम् गोपालकृष्ण शास्त्रीके नामसे प्रसिद्ध हुए। पातञ्जल-

महाभाष्यपर आपने विद्वत्तापूर्ण टीका लिखी तथा पुडुकोटाके तोन्डमन-के आप आध्यात्मिक गुरु भी रहे। ऐसे प्रज्ञावान् एवं तेजस्वी छात्रोंमें मुकुटमणि सदाशिव भी इसी ग्राममें विद्याध्ययन कर रहे थे। आप वाद-विवादमें बहुत रुचि लिया करते थे तथा अपने पक्षके समर्थनमें ऐसे विकट तर्क उपस्थित करते थे जिनका उत्तर गुरुजनोंके लिये भी कठिन होता था।

छात्र-जीवनकी समाप्तिके समय आपको ज्ञात हुआ कि दूरके किसी ग्राममें आपकी पत्नी यौवनको प्राप्त हो चुकी है। इस खुशीमें इनकी माताने विविध प्रकारके स्वादु व्यञ्जन बनाये। इसका परिणाम यह हुआ कि गुरुगृहसे विद्याध्ययनकर लौटनेपर भोजन प्राप्त होनेमें आपको लगभग एक घंटेका विलम्ब हो गया। भोजनकी प्रतीक्षा करते हुए आपके मनमें विचार आया कि 'अभी विवाहित-जीवनके उषाकालके लक्षण ही दृष्टिगोचर हुए हैं; फलतः मुझे घंटे भर भूखा रहना पड़ा। कौटुम्बिक जीवनके दुःखोंका यह पूर्वाभास ही तो है।' अतएव तुरन्त ही आपने विवाहित जीवन व्यतीत करनेके विरुद्ध निश्चय कर लिया। दृढ़ निश्चयी सदाशिव गृह त्यागकर आध्यात्मिक गुरुकी खोजमें निकल पड़े। अब आपके जीवनमें सांसारिक सुखोंके प्रति द्वेष-भाव परिलक्षित होने लगा। कोटि-कोटि दुःखी लोगोंके प्रति आपका हृदय करुणा एवं सहानुभूतिसे आप्लावित हो गया। आपका स्वभाव सीमाओंकी परिधि लांघकर जाति-पाँति तथा सम्प्रदायसे ऊपर उठ गया। समदृष्टि-सम्पन्न युवक योगीको जो भी खानेके लिए दिया जाता वे खा लेते और इस बातकी तनिक भी चिन्ता नहीं करते कि देनेवाला कौन है? सदा शिवको लोग पागल समझने लगे; क्योंकि उनमें छिपे महात्माको लोग देखनेमें असमर्थ थे। शीघ्र ही आपको परमशिवेन्द्र सरस्वती गुरुके रूपमें प्राप्त हुए जिनके मार्गदर्शनमें आपने योगाभ्यास प्रारम्भ किया। ज्ञान एवं साधनामें आपने समानरूपसे विलक्षण उन्नति प्राप्त की। आपके ग्रन्थ संभवतः इसी कालकी रचना हैं। आपके रचे हुए भजनोंमें उच्च-कोटिकी भावुकता, सरसता एवं संगीतमयता परिलक्षित होती है। गुरु-चरणोंकी कृपासे आप शीघ्र ही योगसिद्ध हो गये। लगभग इसी समय आपने आत्मसाक्षात्कारकी प्रशंसामें एक छोटी किन्तु अत्यन्त मधुर कविताकी रचना की। 'आत्म-विद्या-विलास' नामक

आर्याछन्दमें रचित इस कवितामें बासठ श्लोक हैं; जिनमें आत्म-साक्षात्कार-प्राप्त पुरुषका वर्णन किया गया है। ऐसा सिद्ध पुरुष अपने मनोभावोंपर विजय प्राप्त कर लेता है, निन्दा-स्तुतिमें समान रहता है, उसका मन प्राणियोंके प्रति करुणासे भरा रहता है तथा स्वयं आनन्द-सागरमें निमग्न रहता है। इस प्रकारका महिमामय आदर्श आपके जीवनका लक्ष्य बन गया। अपनी उक्त रचनामें आपने अपने इस लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए तीव्र प्यासका वर्णन किया है।

अपने गुरुके पास आनेवाले व्यक्तियोंसे सदाशिव ऐसे-ऐसे कठिन प्रश्न करते; जिनका उत्तर देना उनके लिए शक्य नहीं होता और लज्जित होकर वे मौन हो जाते। लोगोंको इस प्रकारका व्यवहार असह्य हो गया और अन्तमें उन्होंने सदाशिवकी शिकायत परम-शिवेन्द्र सरस्वतीजीसे कर ही दी। गुरुजी इस बातसे कुछ अप्रसन्न हो गये और उन्होंने कहा—'सदाशिव ! तुम अपना मुख बन्द रखना कब सीखोगे ?' सदाशिवने अपनी भूल स्वीकार की तथा भविष्यमें ऐसी भूल फिर न हो; इसलिए आजीवन मौन रहने की प्रतिज्ञा कर ली। आपने गुरुजीसे क्षमा याचना की तथा उन्हें दण्डवत्‌कर गुरु-गृहका त्याग कर दिया। अब वे मौन परिव्राजकके रूपमें देश-देशान्तर-का भ्रमण करने लगे।

आप किसी एक स्थानमें अधिक कालतक नहीं ठहरते। मौन तो थे ही, किन्तु अत्यावश्यक हो जानेपर अपने विचारोंकी अभिव्यक्तिके लिए संकेतोंका आश्रय लेते अथवा भूमिपर लिखते। धीरे-धीरे आप अपने प्रखर स्वभावपर विजय पाने लगे।

मध्याह्न पूर्वकी वेलामें एक दिन योगिराज एक खेतकी मेड़पर सिर टिकाये हुए विश्राम कर रहे थे। उनके समीपसे जाते हुए किसी राहगीरने व्यंग्य करते हुए कहा कि जिस व्यक्तिने संसारका परित्याग कर दिया है, उसे भी अपने सिरके विश्रामके लिए सहारेकी आवश्य-कता बनी रही। दूसरे दिन अपने साथियों सहित वह राहगीर वहाँसे पुनः निकला तो उसने देखा कि योगिराज उसी स्थानपर पड़े हुए हैं; किन्तु उनके सिरके लिए किसी प्रकारका सहारा नहीं है। संसारसे विरक्त होकर भी योगिराज अपनी आलोचनाके प्रति कितने संवेदन-शील थे।

तृणतुलिताखिलजगतां करतलकलिताखिल-रहस्यानाम् ।
श्लाघावारवधूटीघटदासत्वं सुदुर्निरसम् ॥

जिन्होंने तृणके समान सम्पूर्ण जगत्को तुच्छ जान लिया है एवं अखिल रहस्योंको करामलकवत् पहचान लिया है—ऐसे विद्वान् पुरुषोंके लिए भी यह अत्यन्त कठिन है कि वे आत्मश्लाघा रूप वेश्याकी गुलामीसे अपनेको बचा सकें।

किन्तु इस प्रकारकी छोटी-छोटी त्रुटियोंने योगके उच्चतम शिखरके लिए उनका मार्ग ही प्रशस्त किया। अपनी युवावस्थाकी क्रीडास्थलीका परित्याग करके अब आप कोयम्वटूर जिलेकी अमरावती और कावेरी नदीके आकर्षक तटोंपर दिन व्यतीत करने लगे। नदीकी स्वच्छ-पवित्र बालूमें बैठकर अतीन्द्रिय पदार्थका चिन्तन करते हुए कभी पागलकी भाँति निरुद्देश्य भटकते हुए आप कालक्षेप करने लगे। आपकी चढ़ी हुई आँखें कहीं बहुत दूर देखती होतीं; मन बाह्य जगत्के प्रति सर्वथा अचेतन तथा चित्त आत्म-केन्द्रित। जब श्री परमशिवेन्द्र सरस्वतीको यह बताया गया कि उनका शिष्य उन्मत्तकी भाँति भटकता फिर रहा है तो उन्हें इस बातका दुःख हुआ कि इस प्रकारकी मस्ती उनपर क्यों नहीं सवार हुई?

उन्मत्तवत्संचरतीह शिष्य-
स्तवेति लोकस्य वचांसि शृण्वन् ।
खिद्यन्नुवाचास्य गुरुः पुरो हा
ह्युन्मत्तता मे न हि तादृशीति ॥

लोगोंने श्रीगुरुदेवसे निवेदन किया कि आपका शिष्य सदाशिवेन्द्र उन्मत्तवत् विचरण करता है। वे कुछ खिन्न-से होकर बोले—हाय! हाय!! मुझे वैसी उन्मत्तता प्राप्त नहीं हो सकी।

अब वे नदीके किनारे फैले वनमें कभी बहुत गहरे प्रविष्ट हो जाते तथा कई दिनोंतक लोगोंकी आँखोंसे ओझल रहते। कभी वे नदीकी शुभ्र वालुकामें पड़े हूए दिखायी पड़ते। एक दिन कोडुमुडीके समीप कावेरी नदीकी बालुकामें जब आप ध्यानस्थ लेटे हुए थे तब अचानक नदीमें बाढ़ आ गयी और अचेत योगीको वहा ले गयी। तटपर खड़े ग्रामीण किंकर्तव्यविमूढ़ होकर इस दुःखद घटनाको

देखते रह गये। योगिराजके प्रति ग्रामीणोंकी प्रगाढ़ श्रद्धा थी, इसलिए उन्हें भारी सदमा पहुँचा। तीन मास व्यतीत होते-होते नदीका जल कम हो गया। ग्राम-अधिकारी नदीपर 'कोशम्बु' (संभवतः पुल) बनानेके उद्देश्यसे श्रमिकों सहित तटपर गये और कार्यकी शुरुआत की। एक श्रमिकने जब अपनी कुदाली नदीकी रेतमें धँसायी और बाहर निकाली तो उसे अपनी कुदालीसे खून टपकता हुआ दिखायी पड़ा। यह बात विद्युत्-गतिसे फैल गयी और देखते-ही-देखते सभी अधिकारी और श्रमिक वहाँ एकत्रित हो गये। उन्होंने उस स्थानके चारों ओर एक गहरा गड्ढा खोदा। उनके आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहा जब उन्होंने देखा कि वहाँ एक महात्मा समाधिमें लीन पड़ा हुआ है; उसके हाथ-पैर यहाँ-वहाँ फैले हुए हैं। लोगोंने सावधानी-पूर्वक उन्हें गड्ढेसे बाहर निकाला। इस बीच महात्माजी समाधि त्यागकर जाग्रत हो चुके थे। आपने अपने चारों ओर इस प्रकार देखा जैसे कि अभी ही गहरी निद्रासे जगे हों। कुछ क्षण पश्चात् उठकर वे एक ओर चल दिये, जैसे कुछ हुआ ही न हो।

एक दूसरे अवसरपर एक सम्पन्न किसानके आठ नौकर रात्रिके समय कटी फसलके ढेरकी रखवाली कर रहे थे। मध्यरात्रिका सघन अंधकार दिशाओंमें व्याप्त था। योगिराज घूमते-फिरते वहाँ आ पहुँचे और फसलके ढेरसे टकराकर उसपर गिर पड़े। आहट पाकर तुरन्त ही रक्षकगण लाठियाँ ऊँची उठाये वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने देखा कि एक बाबा हाथ-पैर फैलाये ढेरपर पड़ा हुआ है। उन्होंने बाबाकी अच्छी मरम्मत करनेका निश्चय किया, किन्तु उनके आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहा जब उन्हें मालूम हुआ कि वे अपने हाथोंको बिलकुल ही हिला-डुला नहीं सकते। सारी रात वे हाथोंमें लाठियाँ ऊँची उठाये मौन खड़े रहे। प्रातःकाल उनका स्वामी वहाँ आया और अपने नौकरोंको इस संकटपूर्ण स्थितिमें खड़े पाया। जब वह नौकरोंसे वस्तुस्थितिकी जानकारी प्राप्त कर रहा था तभी योगिराज उठकर एक ओर चल दिये। तदुपरान्त नौकरोंको अपनी स्वाभाविक स्थिति तथा हाथोंपर नियन्त्रण प्राप्त हुआ।

किसी ग्राममें वरिष्ठ अधिकारियोंका शिविर लगा था। कर्मचारियोंको ईंधन लानेकी आज्ञा हुई। इन्होंने समीपके बनसे ईंधन इकट्ठाकर कई गट्ठोंमें बाँधा और प्रत्येकने एक-एक गट्ठर अपने सिर-

पर उठा लिया। किन्तु एक गट्ठर बच रहा। दैवयोगसे उसी समय योगिराज वहाँसे निकले। कर्मचारियोंने इन्हें हृष्ट-पुष्ट देखकर एक गट्ठर उनके सिरपर लाद दिया और अपने साथ ले चले। शिविर पहुँचनेपर सभीने अपने गट्ठोंको उतारकर एक ओर ढेर लगा दिया। योगिराजने अपना बोझ ईंधनके ढेरपर सबसे अन्तमें पटका और उनके पटकते ही ईंधनमें आग लग गयी। सबके देखते-देखते सारा ईंधन राख बन गया।

स्पष्ट है कि सदाशिवेन्द्र सिद्ध योगी थे, किन्तु अज्ञानवश लोग इन्हें पागल समझनेकी भयंकर भूल करते थे। प्रायः सभी महापुरुष ऐसे भ्रमका शिकार होते ही हैं। छोटे-छोटे बच्चे योगिराजको पागल समझकर अक्सर उनके साथ छेड़-छाड़ किया करते थे, क्योंकि बच्चोंको मालूम था कि योगिराजसे उन्हें कोई खतरा नहीं है। योगिराज भी इन बच्चोंके साथ बड़े चावसे खेलते और भेंटमें आयी हुई वस्तुओंको उनमें बाँटकर प्रसन्न होते। एक बार बच्चोंने योगिराजसे कहा—'पिताजी ! क्या आप हमें आज रात्रिको मदुरा ले चलेंगे ? रात्रिके समय भगवान् शिवकी शोभायात्रा निकाली जायगी। हम इस जुलूसको देखना चाहते हैं।' बच्चोंने योगिराजका उपहास करनेके लिए यह प्रस्ताव उनके समक्ष रखा था, क्योंकि उनके लिए यह असंभव बात थी। उन्हें यह नहीं मालूम था कि सदाशिवेन्द्र उच्चकोटिके योगी हैं। योगिराजने बच्चोंको अपने शरीरकी पीठ, सिर, कंधे आदि अंगोंपर बैठनेके लिए संकेत किया। बच्चोंको यह लीला बहुत पसन्द आयी और योगिराजके कहनेपर उन्होंने एक क्षणके लिए अपनी आँख भी बन्द कर ली। उनके आश्चर्यका ठिकाना ही नहीं रहा जब दूसरे क्षण आँख खोलनेपर उन सबने अपनेको वृषभासीन भगवान् शिवके भव्य जुलूसके सामने पाया। योगिराजने बच्चोंको खानेके लिए बहुत-सा मिष्ठान्न दिया। बालकोंने जी भरकर उत्सवका आनन्द लूटा। सूर्योदयके पूर्व बच्चे उसी प्रकार योगिराज द्वारा ले आये गये जिस प्रकार उन्हें ले जाया गया था। बच्चोंने अपने उत्सुक अभिभावकोंको सारी कथा सुनायी और उन्हें वे मिठाइयाँ भी दिखायीं जो खानेसे शेष बची थीं।

योगिराज महाशिवरात्रि, गोकुलाष्टमी आदि पवित्र अवसरोंपर एक ही साथ अनेक स्थानोंपर दिखायी पड़ते। वाराणसी, मथुरा,

रामेश्वर आदि स्थानोंसे आनेवाले लोग दृढ़तापूर्वक बतलाते कि योगिराज इन अवसरोंपर वहां भी उपस्थित थे।

आशीर्वाद पानेके उद्देश्यसे एक ब्रह्मचारी योगिराजके पीछे लगा रहता। योगिराज भी संकेतों द्वारा उसे उत्साहित करते रहते। एक दिन ब्रह्मचारीने कहा कि वह श्रीरंगम्‌में रंगनाथजीका दर्शन करना चाहता है। योगिराजने ब्रह्मचारीसे आँख बन्द करनेको कहा। आँख खोलनेपर ब्रह्मचारीने अपनेको श्रीरंगम्‌में रंगनाथ प्रभुके सामने पाया। एक क्षण पश्चात् योगिराज अदृश्य हो गये और ब्रह्मचारीके बहुत ढूँढ़नेपर भी वहाँ नहीं मिले। अन्तमें हारकर वह नेरूर लौट आया। यहाँपर उसने योगिराजको गाढ़ समाधिमें तल्लीन बैठे हुए देखा। ब्रह्मचारीने इस घटनाका वृत्तान्त वहाँके लोगोंको सुनाया, किन्तु पहले तो उन्हें विश्वास ही नहीं हुआ। उन लोगोंने ब्रह्मचारीको बताया कि योगिराज तो वहाँसे कहीं गये ही नहीं। अन्तमें सबने इस काण्डको योगिराजका चमत्कार निरूपित किया। कुछ वर्षोंके पश्चात् योगिराजको उस निरक्षर ब्रह्मचारीपर दया आ गयी। उन्होंने उसे कुछ मन्त्र आशीर्वादके रूपमें सिखा दिये। अब उनमें ऐसी प्रतिभाका उदय हुआ कि वे सभी पुराणोंपर विद्वानोंके समक्ष अधिकारपूर्ण प्रवचन देने लगे। अनेक राजाओंने उनके पाण्डित्यपर मुग्ध होकर उन्हें धन-धान्य एवं भूमिसे पुरस्कृत किया।

भ्रमण करते हुए योगिराज एक दिन एक मुसलमान प्रमुखके शिखरमें चले गये। मुसलमान अपनी पर्दानशीन स्त्रियोंके साथ बैठा विश्राम कर रहा था। उसे इस धृष्टतापर इतना क्रोध आया कि उसने तलवारसे योगिराजका एक हाथ ही काट दिया। योगिराजको पता ही नहीं चला कि क्या हुआ और वे निश्चिन्त आगे बढ़ते गये। योगिराजकी इस उदासीनतासे मुसलमान बहुत ही प्रभावित हुआ। उसे प्रतीति हुई कि उसके क्रोधका शिकार अवधूत कोई सिद्ध महात्मा है। वह उनके पीछे उनकी छायाके समान फिरने लगा। कई दिनोंके पश्चात् योगिराजने पीछे मुड़कर उस मुसलमानकी ओर देखा। उसने अपने गंभीर अपराधके लिए पश्चात्ताप करते हुए क्षमा-याचना की। योगिराजको क्षमायाचनाका कारण समझमें नहीं आया, इसलिए उन्होंने इसकी जानकारी चाही। उस मुसलमानने सारी घटनाका वर्णन किया। इसपर योगिराजने अपने दूसरे हाथको कटे

हुए हाथपर फिराया और देखते-ही-देखते वह पहले जैसा हो गया। इस चमत्कारसे वह मुसलमान स्तब्ध रह गया और उसने योगिराजसे आशीर्वाद माँगा। कहा जाता है कि योगिराज उसे आशीर्वाद देकर आगे बढ़ गये। इस घटनाका वर्णन सदाशिवेन्द्र-स्तुतिके निम्नलिखित श्लोकोंमें किया गया है—

योऽनुत्पन्नविकारः बाहौ म्लेच्छेन छिन्नपतितेऽपि।
अविदितममतायास्मै प्रणतिं कुर्मः सदाशिवेन्द्राय॥

म्लेच्छके द्वारा बाहुके काटके गिरा दिये जानेपर भी जिनके मनमें कोई विकार उदय नहीं हुआ, उन देह-ममता रहित सदाशिवेन्द्रको हम प्रणाम करते हैं।

पुरा यवनकर्तनस्रवदमन्दरक्तोऽपि यः
पुनः पदसरोरुहप्रणतमेनमेनोनिधिम्।
कृपापरवशः पदं पतनवर्जितं प्रापयत्
सदाशिवयतीराट्, स मय्यनवधिं कृपां सिञ्चतु॥

म्लेच्छके द्वारा काट देनेपर रक्तकी अजस्र झड़ी लगी रहनेपर भी जब वह पाप-निधान यवन सदाशिवेन्द्रके चरण कमलोंपर आ गिरा, तब इन्होंने कृपापरवश होकर उसे पतनवर्जित पदकी प्राप्ति करायी—ऐसे यतिराज सदाशिवेन्द्र हमपर निरवधि कृपाकी वर्षा करें।

कभी-कभी सदाशिवेन्द्र देवदर्शनके लिए मन्दिरोंमें जाते। वहाँ वे देवताके समक्ष अर्चना करते। कहा जाता है कि प्रत्येक अर्चनाके पाठके समय अधिष्ठात्री देवताके शिरस्थानपर अपने आप एक पुष्प आ गिरता।

न्यपतन्सुमनानि मूर्धनि येनोच्चरितेषु नामसूग्रस्य।
तस्मै सिद्धवराय प्रणतिं कुर्मः सदाशिवेन्द्राय॥

जब वे भगवान् शंकरके एक-एक नामका उच्चारण करते थे, तब शिवलिङ्गपर आकाशसे पुष्पोंकी वर्षा हुआ करती थी, उन सिद्ध शिरोमणि सदाशिवेन्द्रको हम प्रणाम करते हैं।

इस प्रकारके अनेक चमत्कार योगिराज सदाशिवेन्द्रके सम्बन्धमें प्रसिद्ध हैं। यह सुविदित है कि सिद्ध पुरुषके लिए कुछ भी असंभव नहीं होता। जीवनमें अनेक बार ऐसे चमत्कार देखे सुने जाते हैं। यद्यपि उन सबपर हमेशा विश्वास नहीं किया जा सकता। सदा-

शिवेन्द्र सरस्वती उच्चकोटिके सिद्ध थे। उनका मन हमेशा परमात्मामें लीन रहता। वे हमेशा अपने शरीरपर कीचड़ और भस्म मल लिया करते तथा इस दुनियाको शरीरपर धारण किये हुए कीचड़ादिसे भी अधिक हेय समझते। उनकी परब्रह्मानुभूतिकी उनके गुरु भी प्रशंसा करते।

निजगुरुपरमशिवेन्द्रश्लाघित - विज्ञानकाष्ठाय।
निजतत्त्वनिश्चलहृदे प्रणतिं कुर्मः सदाशिवेन्द्राय॥

जिनकी ब्रह्मात्मैक्यानुभूतिकी पराकाष्ठाकी श्लाघा स्वयं उनके गुरुदेव परमशिवेन्द्र यतीश्वर ही करते रहते थे और अपने स्वरूपमें जिनकी अविचल निष्ठा थी, उन सदाशिवेन्द्रको हम प्रणाम करते हैं।

सदाशिवेन्द्र सम्पूर्ण संसारसे ऊपर उठकर सर्वदा शाश्वत आनन्दमें लीन रहते। उन्हें भोजनादिकी जरा भी चिन्ता न रहती। जहाँ जी चाहता वहाँ भ्रमण करते, मार्गमें बाधा डालनेवाला कोई नहीं था। दुनियामें रहते हुए भी वे दुनियाके परे थे। ब्रह्मज्ञानके जिज्ञासुओंके लिए वे सदा-सर्वदा प्रदीप्त प्रकाश-स्तम्भके रूपमें विद्यमान रहेंगे।

१७६८ ई० के लगभग योगिराज पुडुकोटासे कुछ मील दूर तिरुवरंगुलम्के पासके जंगलोंमें फिरा करते थे। पुडुकोटा रियासतके शासक विजय रघुनाथ तोण्डामन (जिनका अधिक प्रचलित नाम शिवज्ञानपुरम् दोरई था) ने एक दिन इन्हें विस्तृत बनोंमें फिरते हुए देखा। तोण्डामन धार्मिक व्यक्ति थे। अपना अधिकांश समय इसी वनमें ध्यान-योगमें लगाया करते थे। इस बनसे लगी हुई एक झील है जो आज भी इन्हींके नामसे विख्यात है। तोण्डामन दृढ़बुद्धि एवं स्थिर श्रद्धाके साथ योगिराजके सत्संगमें आठ वर्षतक रहे। इसपर प्रसन्न होकर एक दिन सदाशिवेन्द्रने उनके लिए बालूपर कुछ धार्मिक निर्देश लिख दिये और अपने छात्र-सखा गोपालकृष्ण शास्त्रीसे अधिक सीखनेके लिए निर्देश किया। शास्त्रीजी उन दिनों त्रिचनापल्ली जिलेके भिक्षान्द्रकोइलमें रहते थे। उन्हें अपनी कचहरीमें बुलवाकर तोंडामनने उन्हें तथा उनके साथ आये हुए ब्रह्मणोंको बहुत-सी भूमि दान दी। इसका विवरण १७३८ ई० के एक ताम्रपट्टमें आज भी उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त राजमहलके मन्दिरमें

दक्षिणामूर्तिकी उपासना तथा दशहरा महोत्सव सदाशिवेन्द्रकी बतायी हुई विधिसे मनाया जाने लगा। जिस बालूपर योगिराजने निर्देश लिखे थे उसे सावधानीपूर्वक महलमें लाया गया। योगिराजके अवशेषके रूपमें आज भी उस वालूका धार्मिक महत्त्व है। सदाशिवेन्द्रके आगमनके पश्चात् इस राज्यकी बहुत उन्नति हुई। तोण्डामनोंकी मान्यता है कि उनके सम्पूर्ण यश और श्रेष्ठताके मूलमें योगिराजका आध्यात्मिक प्रभाव है।

योगिराज इन बनोंमें अधिक समयतक नहीं रहे। स्वच्छन्द विचरण करते हुए वे कहीं भी चले जाते, किन्तु जहाँ भी जाते वहीं प्रकाश और आनन्दकी वर्षा करते। कहा जाता है कि भ्रमण करते हुए आप योरोपतक पहुँच गये थे।

दीर्घकालतक मौन एवं ध्यानस्थ रहनेके पश्चात् उन्होंने एक दिन नेरूरके ब्राह्मणोंसे कहा कि निकुनके महीनेमें ज्येष्ठ शुद्ध दशमीको मैं इस शरीरको त्यागना चाहता हूँ। आपने बताया कि उक्त तिथिको एक ब्राह्मण वाराणसीसे बाणलिंग लेकर आयेगा, जिसे मेरी समाधिके निकट एक मन्दिरमें प्रतिष्ठित किया जाना चाहिए। अब तो नेरूरकी जनता निश्चित तिथिकी प्रतीक्षा करने लगी। उनके आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहा जब कि सचमुच ही उक्त तिथिको बाणलिंग लेकर एक ब्राह्मण वाराणसीसे वहाँ पहुँचा। जीवनमुक्त सदाशिवेन्द्र एक विशेषरूपसे बनाये गये गड्ढेमें स्वेच्छासे प्रविष्ट हो परब्रह्ममें सदा-सर्वदाके लिए लीन हो गये। लोगोंने यथाविधि आवश्यक अंतिम संस्कार किया और योगिराजके निर्देशानुसार समाधिके निकट मन्दिरका निर्माण करके बाणलिंगको स्थापित किया! कहा जाता है कि योगिराजने एक ही साथ तीन स्थानोंपर समाधि ली थी।

त्रिविधस्यापि त्यागं वपुषः कर्तुं स्थलत्रये य इव।
अकरोत्समाधिमस्मै प्रणतिं कुर्मः सदाशिवेन्द्राय॥

जिन्होंने स्थूल-सूक्ष्म-कारण तीन प्रकारके शरीरका त्याग करनेके लिए ही मानो तीन स्थलोंमें समाधि लगायी, उन सदाशिवेन्द्रको हम प्रणाम करते हैं।

दक्षिण भारत इस महान् जीवन-मुक्तकी लीलास्थली वर्षोंतक रहा है यहाँके लोगोंमें उनके प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा है तथा उनका

पवित्र नाम आज भी बड़े प्रेमसे स्मरण किया जाता है। बड़े-बड़े महात्मा, योगी और त्यागी महापुरुष योगिराज सदाशिवेन्द्रको अपना आदर्श मानते हैं तथा उनके पदचिह्नोंपर चलनेका प्रयत्न करते हैं।

सदाशिवेन्द्र जीने संभवतः अनेक श्रेष्ठ ग्रन्थोंकी रचना की थी किन्तु आजकल उनमें-से केवल कुछ ही ग्रन्थ उपलब्ध हैं। उनमें-से ब्रह्मसूत्रवृत्ति सर्वश्रेष्ठ है। सरल शैली, स्पष्ट व्याख्या, ठोस तर्क और सूक्ष्म विचार इस ग्रन्थकी विशेषता है। योगिराजने इस ग्रन्थमें आद्य शंकराचार्यके भाष्यका सम्पूर्ण सार समाविष्ट करनेका सफल प्रयास किया है। आपने लगभग १२ उपनिषदोंपर दीपिका लिखी है। आत्मविद्याविलास, सिद्धान्त-कल्पवल्ली, अद्वैतरसमञ्जरी आदि आपके अन्य लघुकाय किन्तु महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। इन सभी ग्रन्थोंमें ऐसी मिठास और सरसता निहित है जो केवल एक स्वस्थ, समाहित चित्त एवं समरस योगीके द्वारा ही साध्य है।

अन्तमें हम उनको उन्हींके शब्दोंमें उद्धृत करते हैं—

संत्यज्य शास्त्रजालं संव्यवहारं च सर्वतस्त्यक्त्वा।
आश्रित्य पूर्णपदवीमास्ते निष्कम्पदीपवद्योगी॥

तत्त्वज्ञानके द्वारा शास्त्रका भलीभाँति त्याग करके और निवृत्ति निष्ठा द्वारा सर्वविध व्यवहारका भी परित्याग करके योगी पुरुष पूर्ण पदवीमें विराजमान हो जाता है और निष्कम्प दीपवत् स्थिर रहता है।

वैराग्यविपुलमार्गं विज्ञानोद्दामदीपिकोद्दीप्तम्।
आरुह्य तत्त्वहर्म्यं मुक्त्या सह मोदते यतिराट्॥

वैराग्यकी विपुल सीढ़ियोंके द्वारा विज्ञानकी प्रकाशमयी जगमगाती हुई दीपिकाओंसे ज्योतिर्मय तत्त्वके महलमें पहुँचकर ज्ञानी पुरुष मुक्ति महारानीके साथ आनन्दित होता है।

आशावसनो मौनी नैराश्यालंकृतः शान्तः।
करतलभिक्षापात्रस्तरुतलनिलयो मुनिर्जयति॥

दिशाएँ ही परिधान हैं, वाणी मौन है, निःसंकल्पताके अलंकार हैं, शान्ति ही शान्तिका साम्राज्य है, हथेली ही भिक्षापात्र है, वृक्षकी छाया ही महल है—ऐसे यतिराज ज्ञानी मुनिकी जय हो—जय हो। ●

'सुश्लोक-लाघव' के कुछ पद्य

—श्री गोविन्द नरहरि वैजापुरकर—

[एम-ए०, न्याय-वेदान्त-साहित्याचार्य]

•

नागपुरके वैकुण्ठवासी सन्त श्री विट्ठलपन्त (विठोबाअण्णा) दफ्तरदार वैसे तो महाराष्ट्रके वर्तमान भावुक हरिभक्तोंके लिए सुप्रसिद्ध हैं, पर नारदीय संकीर्तन-सम्प्रदायके प्रत्येक छात्रके लिए वे गुरु-रूपमें स्मरणीय हैं। इस सम्प्रदायके किसी भी ख्यातिप्राप्त कीर्तनकारके कण्ठोंको विठोबाअण्णाके २-४ श्लोक भूषित न करते हों, यह संभव ही नहीं। प्रत्येक विज्ञ कीर्तनकार अपने कीर्तनमें उनके अनूठे २-४ श्लोक गाकर काव्य-कला, श्लेषादि अलंकार-छटा, प्रतिभा और नयी सूझ-बूझसे श्रोताओंको विभोर किये बिना नहीं छोड़ सकता। जहाँ नासिकके श्री हरिसूरि (हरिबाबा शास्त्री) ने श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्ध पूर्वार्धकी कृष्ण-कथाको उतने ही अध्यायोंमें 'भक्ति-रसायन' के रूपमें प्रस्तुत करके आलंकारिकों, ध्वनिवादियों, रसलोलुपों एवं पिंगलप्रेमी संस्कृत मनीषियोंके ज्ञान-चक्षुओंको दीप्त कर छोड़ा, वहीं विठोबाअण्णा रामादि देवोंकी भक्तिके अनेक उपदानोंको लेकर विभिन्न छन्दोंमें ५५२ संस्कृत मुक्तक श्लोकोंसे सुभाषितकी नवीनतम सालंकृत छटा 'सुश्लोक-लाघव' के रूपमें प्रस्तुत करते हैं। कवि प्रतिज्ञा करता है कि 'रसिक श्रोतृजन, मैं आप सबको हाथ जोड़कर बार-बार बिनती करता हूँ कि दोषदृष्टि न रखते हुए 'सुश्लोक-लाघव' ग्रन्थ सुनिये : निश्चय ही उससे आपके अन्तःकरणका अत्यन्त समाधान होगा और रसमयी वाणीके कारण केवल अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होगा' :

मूर्ध्न्यञ्जलिं विरचयन् मुहुरर्थयेऽहं
सुश्लोकलाघवमहो शृणुताऽनसूयम्।
जायेत चेतसि ततः सुमहाप्रसादः
स्यादेव वागविषयः सहज-प्रमोदः ॥ १३ ॥

कविके विषयमें !

आजसे ११६ वर्ष पूर्व श्री विठोबाअण्णाने यह ग्रन्थ पूरा किया। महाराष्ट्र ब्राह्मण जातिकी कह्राड-देशवासी (कह्राडे) शाखाके कवि विट्ठलपन्त दफ्तरदारने १५६ वर्ष पूर्व (शके १७३५, पौष कृष्ण अमावास्या) कह्राड देशमें जन्म पाया। नागपुर आपका प्रमुख कार्यक्षेत्र रहा। आपने श्रीअप्पाशास्त्री, श्रीगुण्डाचार्य घलसासी, श्रीनारायणाचार्य गजेन्द्रगडकर आदि विद्वानोंसे व्याकरण; साहित्य, दर्शनादि शास्त्रोंका अध्ययन किया। आपका प्राय: आधेसे अधिक जीवन पेशवाके यहाँ कर्णिक (लिपिक) की सेवामें, जो आपकी परम्परागत वृत्ति थी, बीता। यह शास्त्र संग भी साथ-साथ चलता रहा। पर अन्तिम जीवन भगवद्-भक्ति और इष्टदेव रामप्रभुकी उपासनामें ही व्यतीत हुआ।

यों तो आपने अनेक स्फुट काव्य लिखे किन्तु उनमें प्रमुख हैं— शिवस्तुति, गजेन्द्रचम्पू (२५वें वर्षकी रचना), सुरलोकलाघव, हेतु-रामायण, प्रबोधोत्सव-लाघव, प्रयोग-लाघव, नित्यकर्म-लाघव, सकल्प, रामतापिनी, विवाहतत्त्व, साधुपार्षद-लाघव, एकादशी-विचार। 'विवाहतत्त्व' पुनर्विवाहके प्रसङ्गमें रचा गया और आपने इस प्रसंगमें सनातनधर्मकी निर्णीत शास्त्रीय पक्षकी दृढ़तासे स्थापना की।

शके १७९५ वैशाख कृष्ण एकादशीको श्री विठोबाअण्णा सन्त-सुलभ रीतिसे राम-नाम लेते हुए वैकुण्ठवासी हुए। मरते समय भगवान्‌का पूजनकर खीरका भोग लगाकर उनका चरणामृत अपने हाथों लिया, फिर वह चरणामृत-पात्र हाथसे जमीनपर गिरनेके साथ ही उनकी देह भी जमीन पर गिर पड़ी। अन्तिम जीवनमें उन्होंने श्रीरामनवमी-उत्सवको अपना सबसे श्रेष्ठ आयोजन बनाया। मरते समय वे अपने दोनों पुत्रों बाबूसाहब और भाऊसाहब (रघु-वीरराव)को यह उत्सव अखण्ड चलाते रहने तथा किसीकी नौकरी न करनेका निर्देश देते गये। भाऊसाहब भी पिताकी तरह अच्छे कवि हुए।

श्री विठोबाअण्णाके इस सुरलोक-लाघवकी पाण्डित्यपूर्ण मराठी व्याख्या सन् १९१७में श्री कृ० ना० आठल्येने की और वह प्रकाशित

भी है। किन्तु अभीतक राष्ट्रभाषाके प्रेमियोंको उसके रसका आस्वाद नहीं मिल पाया। मूल संस्कृत होने पर भी उत्तर भारतके संस्कृत विद्वानोंके समक्ष यह ग्रन्थ बहुत कम आया, यह दुर्भाग्यकी बात है। यहाँ हम कविके इस ग्रन्थसे उनके इष्टदेव श्री रामचन्द्रके गुणगानके कुछ पद्य प्रस्तुत करते हैं, जिससे स्पष्ट हो जायगा कि प्रस्तुत काव्यके विषयमें हमारा यह मूल्य-मापन कहाँतक सन्तुलित है।

शंकर अर्धनारीश्वर क्यों ?

हाँ, तो आइये, विट्ठल-माधुरीकी कुछ बानगी चखिये ! कवि पतेकी बात बताता है कि भगवान् आशुतोष क्योंकर अर्धनारी-नटेश्वर बने ?

> स्त्रीचिन्ताऽपि मनोभवं वितनुते तत्सन्निधिः किं पुन-
> स्तस्मिन् सत्यपि नित्यदाऽनुजपति श्रीरामरामेति यः।
> साधोस्तस्य महेश्वरस्य न पुरः स्थातुं समर्थः स्मरो
> नूनं दर्शयितुं जनानिति भवोऽभूदर्धनारीनटः॥ ११८॥

अर्थात् स्त्रीके चिन्तनमात्रसे मदनका प्रादुर्भाव होता है तो उसे पास रखनेपर उसके प्रभावकी बात ही क्या ? यद्यपि यह सच है, फिर भी महासाधु शंकर रात-दिन 'श्रीरामरामेति' जपते रहते हैं। अतएव मदनको उनके सामने खड़े होनेतककी हिम्मत नहीं। मानो यही लोगोंको दिखानेके लिए शङ्करने अर्धनारी-नटेश्वरका रूप धारण कर लिया है। यहाँ राम और रामा (स्त्री) का श्लेष दर्शनीय है।

चन्द्र किससे चमका ?

कवि पाँच श्लोकोंसे बताते हैं कि चन्द्रकी लोकमें ख्यातिका एकमात्र कारण रामका संयोग (राम+चन्द्र) ही है। अन्यथा वह तो दोषाकर (दोष+आकर=खजाना) है। कैसे ? तो दो श्लोकोंके नमूने देखिये :

> चन्द्रो वै परदारधर्षणरतो नक्षत्रमार्गस्थितो
> नित्यं क्षीणतनुः कलङ्ककलुषो दोषाकरोऽन्तर्जडः।
> ईदृक् सन्नपि यच्च राजपदवीमारूढवान् साम्प्रतं
> सोऽयं रामपद-प्रसङ्ग-महिमा लोके समुज्जृम्भते॥ १३१॥

चन्द्रके दोष कितने गिनाये जायँ ? न तो यह सदाचारी है और न पराक्रमी। कीर्तिमान् कहें तो वह भी नहीं। पुण्यवान् भी नहीं और न बुद्धिमान् ही है। कैसे ? तो देखिये ! परस्त्रीसे रममाण तो हो ही गया, 'न+क्षत्रमार्गस्थितः' यानी क्षत्रियके पौरुषमय मार्गका भी अनुगामी नहीं है। यह नित्य क्षीणतनु है, कृष्णपक्षमें प्रतिदिन उसे कलाका क्षयरोग लगा रहता है। यही नहीं, बीचमें कलंकसे कलुषित भी है। यही क्यों, वह दोषोंका आकर यानी खान है। इतना सारा होनेके साथ अन्तर्जड भी है, भीतरसे उसका अपना प्रकाश कुछ नहीं, सूर्यके प्रकाशसे ही प्रकाशित होता है। इतना निम्न भी चन्द्रमा 'राजा'की जो पदवी पा गया (संस्कृतमें चन्द्रका 'राजा' भी एक नाम है)। प्रभो रामचन्द्र, उसे इस संसारमें यह लोकोत्तर महिमा आपके नाम (राम) का सम्पर्क होनेसे ही प्राप्त हुई है।

यहाँ 'नक्षत्रमार्गस्थितः', 'दोषाकरः' और 'अन्तर्जडः'का दूसरा श्लिष्ट अर्थ है : नक्षत्रमार्ग = आकाशमें स्थित; दोषाम् = रात्रिको + करः = करनेवाला; अन्तः = भीतर + जडः = (संस्कृत काव्यमार्गमें 'ड' और 'ल'का अभेद होनेसे) 'अन्तर्जलः'—ज्योतिषशास्त्रमें चन्द्रको जलमय बताया गया है।

> जातः सन् कुटिलत्वमेव भजते संसेवते वारुणीं
> शुभ्राङ्घ्रिर्गुरुदारधर्षणकरो ब्रह्मघ्नसंसर्गभाक्।
> ईदृक् सन्नपि यद् द्विजेन्द्रपदवीमारूढवान् साम्प्रतं
> सोऽयं रामपद-प्रसङ्ग-महिमा लोके समुज्जृम्भते ॥ १३२ ॥

सब ब्रह्म ही है

परिणाम सदा सजातीय होता है। सोनेसे गहना बना तो सोना ही रहा। मिट्टीसे घड़ा बना तो मिट्टी ही रहा। अतः चेतनका परिणाम अचेतन नहीं होगा। रस्सीमें सर्पकी भाँति चेतनमें प्रपञ्च दीख रहा है। कार्यरूपसे और कारणरूपसे भी दीख रहा है। यह कार्य-कारण दोनों विवर्त है। विवर्तका अर्थ है अतात्त्विक अन्यथा भाव। अतः कार्यकारण रूपमें जो कुछ दीख रहा है वह सब ब्रह्म ही है।

—माण्डूक्य-प्रवचन

चन्द्रके और कितने दुर्गुण गिनायें ? वह जन्मके साथ ही टेढ़ा है, कुटिल है। इसपर वह 'वारुणी'का, मद्यका सेवन करता है। यह 'शुभार्ङ्घ्रि:'=सफेद पैरोंवाला (अङ्घ्रि:=पाद=किरणें या पैर) है। देव-गुरु बृहस्पतिकी रोहिणी नामक पत्नीके साथ बलात्कार किया। यही नहीं, यह चन्द्रमा (ब्रह्माका एक सिर काटनेसे) ब्रह्म-हत्यारे शङ्करके साथ रहता है, सदैव उनके सिर चढ़ा रहता है। इतना दुर्गुणी होनेपर भी राम-पद-संसर्गकी महिमाके कारण ही चन्द्र 'द्विजेन्द्र' (ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ) पद पा गया। यह है रामनामकी लोकोत्तर महिमा! संस्कृतमें चन्द्रका एक नाम 'द्विजराज' या 'द्विजेन्द्र' भी है।

फलोंमें प्रियतम आम क्यों ?

फलोंमें प्रियतम आम क्यों ? इसपर कविकी उड़ान बड़ी ही अनूठी है। वे कहते हैं:

> द्राक्षादीनि फलानि सन्ति मधुराण्येवेति नैवान्यथा
> किन्त्वेको भृशमाम्र एव भवति प्रेयान् नृणां सर्वतः।
> आत्तस्थ त्वमुना कथञ्चिदपि यद्रामेति सर्वात्मनो
> नाम्नो वर्णचतुष्टयस्य महिमा सोऽयं समुज्जृम्भते॥ १३६॥

यह सच है कि संसारमें द्राक्षा (अंगूर) आदि मधुर फल हैं। मुँहमें डालिये तो मीठा ही मीठा! फिर भी 'आम' लोगोंको सबसे प्रिय क्यों ? खोज देखिये, हजारों लाखोंमें कदाचित् ही किसीको आम प्रिय न लगता हो। बाकी सभी गरीबसे अमीर, बालकसे वूढ़े, स्त्री-पुरुष आमके लिए तरसते रहते हैं। तब इसका उत्तर एक ही है, आम्रने राम-नामका आश्रय जो लिया है। 'द्राक्षा' ने 'राम'का केवल 'रा' अक्षर ही ग्रहण कर लिया तो वह इतनी मीठी बन गयी। रामको उलटा कर दें तो 'मधुर' शब्दमें रकार एक और मकार एक, इस तरह दो अक्षर आते ही हैं। 'आम्र' शब्दका भी यही हाल है। आम कह-सुनकर ठहरा जड़ ही। उसे राम-नाम ये अक्षर आ ही कैसे सकते हैं ? इसलिए उसने आ म् र् ये राम शब्दके स्वर-व्यंजन एकत्र कर उन्हें उलटा-सिलटा धारण कर लिया है। इतनेसे भी वह सबको प्राणोंसे भी अधिक प्यारा बन गया है। 'श्रीराम' शब्दके चारों अक्षरोंकी यह अद्भुत महिमा है। वाल्मीकि ऋषिको राम कहने

नहीं आता था। उन्होंने 'मरा, मरा' कहा तो भी उनका उद्धार हो गया। इससे स्पष्ट है कि 'राम'का नाम जिस किसी भी प्रकार हृदयसे भक्ति-श्रद्धाके साथ लिया जाय तो भी बेड़ा पार है। 'राम'के ये चार अक्षरोंकी महिमा इस तरह सर्वत्र विद्योतित हो रही है।

अनङ्ग भी जगज्जयी कैसे बना ?

कविकी राम-नामकी महिमाके सम्बन्धमें एक उड़ान और सुनिये :

> चापः पुष्पमयो, मधुव्रतमयी मौर्वी, मिता मार्गणाः
> हीनाङ्गः स्वयमप्यसौ जयति यन्मारो जगत्सर्वशः।
> आत्तस्य त्वमुना कथञ्चिदपि यद्रामेति सर्वात्मनो
> नाम्नो वर्णचतुष्टयस्य महिमा लोके समुज्जृम्भते ॥ १३७ ॥

मार या कामदेव स्वयं ठहरा हीनाङ्ग ! विकलाङ्ग नहीं, अनङ्ग ! फिर उसका धनुष है फूलोंका, कोमलतर। धनुषकी मौर्वी (डोरी) है चंचल भँवरोंकी बनी। बाण भी पूछिये तो इने-गिने, केवल पाँच फूलोंके। फिर भी कामदेव सारे जगत्को जीत लेता है। कौन है संसारमें, जो इसका शिकार न हुआ है। पूछेंगे—यह कैसे बना ? उत्तर स्पष्ट है, इस मारने जिस किसी प्रकार ('र' का अकार 'म' में जोड़कर और फिर भी उलटे रूपमें) हृदयसे रामकी शरण गही। इसीलिए सर्वथा दुर्बल होकर भी विशाल जगत्पर वह अपनी विजय-वैजयन्ती फहरा पाया ! जगत्में 'राम' इन चार वर्णोंकी यही विलक्षण महिमा सर्वत्र विद्योतित हो रही है।

रेफ लेखोंमें ऊपर क्यों ?

रामसे संसर्ग पाकर रेफ या कुत्सित-बुद्धि मानव भी लेख (लिपि)-में सदैव सबसे ऊँचा स्थान पाता है, अथवा देवताओंमें सर्वोपरि बन जाता है, यह कहते हैं :

> पापा ये तु निरक्षरा परदृढासक्त्यैव रामेत्यदः
> संसर्गाद् दधति स्थितिं सुनियतं लेखेषु सर्वोपरि।
> रेफात्मन्युत नापवर्गभवने वर्णे जघन्ये फलं
> यस्माद् [illegible] निखिलं रामेति संसर्गजम् ॥ १३९ ॥

किम्बहुना, कोई कितना ही पापी हो या अक्षरशत्रु, तो भी भक्ति (या परमात्मा परब्रह्म की दृढ आसक्ति) तथा रामनामके संसर्गसे निश्चय ही उसे देवताओंके बीच (लेखेषु) सर्वोपरि स्थान प्राप्त होता है। रेफात्मा यानी कुत्सित-बुद्धि मोक्षमार्गका पथिक (अपवर्ग+भवन) न होने तथा जातिसे (वर्णसे) निम्न होनेपर भी उसे यह उच्चमत पद, फल प्राप्त होता है।

श्लेषसे दूसरा अर्थ : र् और म् (जो न = नहीं, अ+पवर्ग-भवने, जो पवर्ग या प फ ब भ म के वर्गमें नहीं, ऐसा नहीं अर्थात् पवर्ग-भवनमें रहता है) ये व्यञ्जन निरक्षर होनेपर यानी अ रूप स्वरके अभावमें—अके आगे न रहनेपर लिपिमें सबसे ऊपर ही स्थान पाता है। रेफ अक्षरोंके सिर दिया जाता है और म् भी अनुस्वार बन सिर चढ़ बैठता है। दोनों जघन्य वर्ण हैं, व्यंजन है; फिर भी उन्हें यह पद मिला एकमात्र 'राम' नामके संसर्गसे। सभी जानते हैं कि 'राम'में ये दोनों अक्षर जुड़े हुए हैं।

क्या राम भी वैयाकरण थे ?

कवि रामको वैयाकरण बनाकर वाणीको सलाह देते हैं कि अपनी शुद्धिके लिए उन्हींका आश्रय कर :

नो जातः प्रकृतेः पर क्वचिदपि प्राप्नोति यत्प्रत्ययो
लोपं नैव विकल्पते किल यदादेशः प्रवृत्तः क्वचित्।
वृद्ध्या यस्य गुणो न बाधित इति श्रीरामचन्द्र प्रभुः
सद्वैयाकरणाद् विशिष्यत इति त्वं वाक् तमेवाश्रय ॥ १४८ ॥

प्रथम अर्थ : जो मायासे परे हैं और जिसका साक्षात्कार या स्वरूपज्ञान होने पर वह कभी भी नष्ट नहीं होता; जिसकी आज्ञा एकबार चल पड़ी तो वह कभी वापस नहीं लौटती; जिसका अधिकाधिक उत्कर्ष होने पर भी सद्गुण बढ़ते जाते हैं, उसमें कभी बाधा नहीं आती; जैसे अधिक भक्ति करनेपर वह बाधक नहीं होती, बढ़ती ही है, साथ ही जिसका आत्मज्ञान होने पर वह कभी कम नहीं होता, बढ़ता ही जाता है, वह रामचन्द्र प्रभु अत्यन्त प्रखर वैयाकरण है। हे वाणी, तू उसीका आश्रय कर।

दूसरा अर्थ : (व्याकरण-दृष्टिसे) : व्याकरणमें प्रत्यय प्रकृति (नाम या धातु) से परे होता है, यह सच है। लेकिन कभी-कभी

इस प्रत्ययका लोप हो जाता है। [जैसे प्रथमाका 'स्' प्रत्यय 'मरुत्' नामके आगे होनेपर लुप्त हो जाता है। व्याकरणका नियम है कि किसी शब्दके अन्तमें 'त्स्' जैसे संयुक्ताक्षरोंके रहनेपर पहले अक्षर 'त्'को छोड़ शेषका लोप हो जाता है।] किन्तु रामचन्द्रके विषयमें उनके प्रत्यय (ज्ञान)का लोप नहीं होता।

श्रीरामके 'आदेश' [=आज्ञामें विकल्प नहीं होता] पर व्याकरणमें 'आदेश'का विकल्प होता है। [जैसे:—'हरे+एहि=हरयेहि' यहाँ 'हरे' के 'ए' की जगह 'अय्' आदेश हुआ है। पर इस 'अय्' आदेशका विकल्पसे लोप होता है और 'हरे+एहि=हर एहि' ऐसी सन्धि होती है। अर्थात् आदेशको विकल्प होता है।

अ-इ-उ-ऋ-ऌ की जगहपर आ-ए-औ-आर्-आल् हो जाना, इसे 'वृद्धि' कहते हैं। इसी तरह इ-उ-ऋ-ऌ की जगह ए-ओ-अर् अल् होनेपर उसे 'गुण' कहा जाता है। ये दोनों 'वृद्धि' और 'गुण' 'आदेश' कहलाते हैं और इनमें वृद्धि-आदेश गुण-आदेशका अपवादक होता है। लेकिन श्रीरामचन्द्रमें ऐसी बात नहीं। वहाँ वृद्धि या उन्नति होनेपर औदार्यादि गुण भी बढ़ते ही जाते हैं। उनका अपवाद नहीं होता।

इस प्रकाशमें देखनेपर श्रीरामचन्द्र लौकिक सद्वैयाकरणोंसे भी श्रेष्ठ हैं। इन वैयाकरणोंको कहाँ प्रत्ययका लोप होता है, कहाँ आदेश विकल्पसे होता है, कहाँ गुणादेशकी जगह वृद्ध्यादेश होता है, यह सब पता नहीं रहता। इसीलिए ये प्रत्यय-लोप, विकल्प और बाधककी भाषा बोलते हैं। किन्तु श्रीराम इन सद् वैयाकरणोंसे भी विशेषता रखते हैं। वैयाकरणोंमें दिखायी पड़नेवाले उपर्युक्त वैगुण्य उनमें दिखायी नहीं पड़ता। कविने श्लेषके आधारपर व्यतिरेक-अलंकारकी जो छटा यहाँ प्रस्तुत की है, वह सचमुच दर्शनीय है।

शास्त्रप्रेमी रसिक पाठक इन दो-चार उदाहरणोंसे सन्त विठोबा-अण्णाके 'सुरलोक-लाघव'की कुछ आहट अवश्य पा गये होंगे। अवसर मिलनेपर कभी पुनः इसपर प्रकाश डाला जायगा। काश! माईका लाल यह संपूर्ण ग्रन्थ राष्ट्रभाषाके पाठकोंको कभी प्रस्तुत कर पाये।

वह नहीं भूल सकेगा

श्री 'चक्र'

'आप कुछ खिन्न दीखते हैं!' वे कथावाचक हैं। बड़े हँसमुख हैं। उन्हें उदास देखा था मैंने पहली बार।

'कोई विशेष बात नहीं है!' तनिक रुककर वे बोले—'आप जानते ही हैं कि आजकल पूछ उनकी होती है, जिनकी पूंछ लम्बी हो और मैं पुच्छल नहीं हूँ।'

'ठीक कहते हैं आप!' मैंने कहा—'मनुष्य आज कुत्ते, बिल्ली, चूहे, खरगोश और जाने क्या-क्या पालता है; उन्हें दूध पिलाता है; किन्तु भूखा मनुष्य द्वारपर आ जाय तो डंडा लेकर उसके पीछे स्वयं दौड़ेगा या चपरासीको दौड़ा देगा।'

'मनुष्य आज मनुष्य कहाँ है! वह पशु हो गया है।' वे शिथिल स्वरमें कहने लगे—'उसे पशु ही प्रिय लगता है; किन्तु मनुष्य क्या करे—जो अपनेको पशु नहीं बना पाता?'

'मनुष्य जो हैं, पशुओंकी दयाकी अपेक्षा भी क्यों करें?' मैंने स्थिर स्वरमें अपनी बात बतायी—'नरका नित्य सखा नारायण मरा नहीं करता और न कभी कृपण बनता!'

'लेकिन मनुष्यके साथ यह जो पेट लगा है!' वे हताश हो रहे थे।

'आप नारायणका गुणानुवाद सुनाकर पशुप्राय मनुष्यको ठीक मनुष्य बनानेका प्रयत्न करते रहें!' मैं जो जानता-मानता हूँ, वह यही है—'वह नारायण विश्वम्भर है, इसे आप भूल भी जायँ तो वह स्वयं नहीं भूल सकेगा!'

प्रदीप्त अग्नि

संन्यासी उसे कहते हैं जिसकी अन्तर्दृष्टि सर्वदा प्रदीप्त रहे। किसी स्थान, वस्तु और व्यक्तिमें आसक्त न हो। भूतकी स्मृति और भविष्यके स्वप्नको प्रतिक्षण भस्म करती रहे। संन्यासी अर्थात् प्रज्ज्वलित-प्रचण्ड अग्नि।

अर्थ-लोभमें बुद्धिमान् भी ठगे जाते हैं !

सुश्री उर्वशी सूरती एम० ए० पी-एच० डी०

सामान्य हीराखोजी पृथ्वीके गर्भमें-से हीरा खोज निकालते हैं, परन्तु आर्नोल्ड ऐसा चालाक हीरा-खोजी था कि उसने स्वयं पृथ्वीके गर्भमें हीरोंको छिपा दिया और दूसरोंको उसकी खोजकी ओर आकर्षितकर पर्याप्त द्रव्य कमाया। यह एक सत्य घटना है। संसारमें इस प्रकारकी अनेक आकर्षक और मोहक घटनाएँ होती रहती हैं—इनसे सावधान रहकर ही व्यवहार-क्षेत्रमें उतरना चाहिए।

आर्नोल्डका जन्म सन् १८३० ई० के करीब अमेरिकामें हार्डिन काउन्टीमें हुआ था। उसने बचपन और जवानी, दोनों सामान्य मनुष्यकी तरह वितायी। उसे विरासतमें एक छोटा-सा खेत मिला था। उसने शादी की; दो बच्चे हुए। अमेरिकी गृहयुद्धके पूर्व आर्नोल्डकी दबी हुई महत्त्वाकांक्षा सक्रिय हो उठी, वह अपने बड़े धनी होनेका स्वप्न देखा करता था। वह सुवर्णकी खोजमें कोलिफोर्निया गया और वहाँ उसने थोड़ा-बहुत लाभ भी उठाया। बादमें उसने सानफ्रान्सिस्कोकी डायमण्ड ड्रिलींग कम्पनीमें सहायक मुनीमकी नौकरी कर ली, परन्तु उसमें उसका दिल न रम सका, तब उसने उसी कम्पनीमें रहकर हीरा परखनेका विज्ञान प्राप्त किया।

उन दिनों अनेक साहसी अमेरिकी हीरेकी खानोंकी खोज कर रहे थे। १८७१ ई० में आर्नोल्डने नौकरीसे छुट्टी ले ली और दो महीनोंके लिए गायब हो गया। अचानक एक दिन उसने सानफ्रान्सिस्कोमें घोषणा की कि पूर्व एरिझोनामें उसे हीरेका खजाना मिल गया है और प्रमाणस्वरूप उसने मुट्ठी भरकर मणि, माणिक्य, पन्ने आदि दिखाये। उनमें कई नग प्राकृतिक अवस्थामें थे, उसने बताया कि यह छोटा-सा कोष उसे एक रेड-इण्डियनको एक गैलन व्हिस्की देनेपर मिला है। आर्नोल्डने अपने भागीदार स्लेकको खान बतायी। भयंकर जङ्गलमें होनेके कारण वे अकेले वहाँ ठहर नहीं सकते थे। अतः उस रेड-इण्डियनका काम तमाम करके वे निश्चिन्त हो गये और खानपर विशेष चिह्न

लगाकर नगरमें लौट आये। फिर वे किसी हीरेकी खानमें दिलचस्पी रखनेवाले व्यक्तिकी खोजमें लग गये। बहुत परिश्रमके बाद उसकी जार्ज रोबर्ट्स्से भेंट हुई। आर्नोल्डने अपने (लन्दनके बाजारसे खरीदे हुए) जवाहरातको दिखाकर हीरेकी खान-वाली बात बता दी। परन्तु वह उसे खान बतानेको तैयार न था। स्लेक और आर्नोल्डने तो उसे डरा दिया कि वहाँ जाना बड़ा खतर-नाक है।

इस विषयमें रोबर्ट्स्की दिल-चस्पी बढ़ती गयी और विलियम राल्स्टन नामके सर्राफको उसके लिए तैयार किया। उन्होंने अनु-भवी जौहरियोंसे आर्नोल्डके जवाह-रातकी परख करवायी। ये जौहरी प्राकृत हीरोंकी परख नहीं कर सकते थे। इसलिए बारह हजार-डालरके जवाहरातका मूल्यांकन एक लाख डालर किया। जब उन्होंने आर्नोल्डसे खान देखनेकी इच्छा प्रकट की तब आर्नोल्डने सर्वप्रथम अपना हिस्सा माँगा और खदान-कार्यमें कुशल और प्रसिद्ध कोल्टनकी आँखोंपर पट्टी बाँधकर उसे वहाँ ले गये और उसकी पट्टी खोल दी। फिर उसे खान दिखायी। कोल्टनने एक हीरा खोज निकाला। दिनभरमें चालीस-पचास हीरे मिले। लौटकर कोल्टन राल्स्टनको मिला और खानकी अतिशय प्रशंसा की तथा बहुत सारे व्यापारियोंको इसके लिए इकट्ठा किया। वे खान देखनेको बहुत उत्सुक थे। आर्नोल्ड बोला—"मैं गरीब आदमी ठहरा! खान दिखाऊँगा तो मैं तो मारा जाऊँगा।" अन्तमें आर्नोल्ड और स्लेकको साढ़े छह लाख डालर देने का दस्तावेज तैयार किया। देशभरमें विद्युद्वेगसे यह समाचार फैल गया और फिर सबकी दिलचस्पी बढ़ी। आर्नोल्डने कहा—"अब स्लेकको अधिक धैर्य नहीं है। उसे लाख डालर दे कर छोड़ दो।" व्यापा-रियोंने रातों-रात निश्चित धनराशि इकट्ठीकरके स्लेकको दे दी।

फिरसे खानमें लाकर हीरा बोनेके लिए वे दोनों लंदन गये और पचास हजार डालरके जवाहरात उन्होंने खरीदा और खानकी जगहपर आकर जमीन खोदकर उनको जगह-जगह बिखेर दिया। अबतक दस्ता-वेज पक्का नहीं हुआ था। अमेरिकाके व्यापारियोंने माईनिंग कम्पनी खोली और प्रसिद्ध जौहरी चार्ल्स टीकानीसे परामर्श किया। वह भी प्राकृत हीरोंकी परख ठीक-ठीक नहीं कर सकनेके कारण उसने बारह हजार डालरके जवाहरातका मूल्यांकन डेढ़ लाख डालर किया और हेनरी जावीन नामके माईनिंग इंजीनीयरको आर्नोल्डके साथ खान देखनेको भेजा।

पहलेसे ही इन बातोंको सुन-सुनकर प्रभावित हो चुकनेके कारण उसने कहा : 'मुझे यंत्र और मजदूर मिलें तो मैं प्रति मास दस लाख डालरके हीरे दे सकूंगा। खानका विस्तार तीन हजार एकड़में था। करोड़ों डालरका हिसाब लगता था।

कंपनीके प्रणेताओंने पूर्ण विश्वास-के साथ दस लाख डालरकी पूंजी लगाकर 'सानफान्सिस्को एण्ड न्यूयार्क माइनिंग एण्ड कमर्शियल कपनी'की स्थापना की। इसकी रिपोर्ट पर अमेरिका भरमें भारी सनसनी फैल गयी। आर्नोल्डने इसका लाभ उठाते हुए कहा : "हम तो ठगे गये। हमें मालूम ही न था कि यह खान इतनी जबरदस्त होगी।" कंपनीके स्थापकोंने उसके हिसाबके साढ़े चार लाख डालर देकर उसको अलग कर दिया। पैसा लेकर आर्नोल्ड अपने गाँव गया तब कंपनीवाले निश्चिंत हुए। जगह-जगहपर अनेक कार्यालय खोले गये। हीरोंकी प्रदर्शनी की गयी और मुग्ध हुए लोगोंने बड़ी मुश्किलसे अपने हिस्से खरीदे। पेरिसके प्रसिद्ध धनी रोम्सचाइल्डका हिस्सा भी इसमें था। उसे भी इस उद्योगकी सफलतामें पूरा विश्वास था।

अन्तमें यह बुलबुला फूट गया। क्लेरेन्स किंग नामक एक भूस्तर-शास्त्री युवान एरिजोनाका भूस्तर-अन्वेषण कर चुका था, परंतु यह उसकी जानकारीमें क्यों न आया, यह सोचकर वह फिरसे अन्वेषण करने लगा। आर्नोल्डकी खानका प्रदेश हीरेकी खानके सारे लक्षण रखता था। किंगने खोदते-खोदते हीरे मणि-माणिक्य, पन्ने और तराशे हुए हीरे भी पाये। उसे मालूम था कि एक ही प्रदेशमें विभिन्न प्रकारके रत्न नहीं मिल सकते, यह प्रकृतिका नियम है। उसने कंपनीको रिपोर्ट लिखी, "जिस खानके भरोसेपर तुम्हारी कंपनी स्थापित हुई है उस हीरेकी खानकी कोई कीमत नहीं है। आर्नोल्डने तुम सबको बेवकूफ बनाया है।"

हीरेकी यह खान मृगजलवत् थी। कंपनीके सभी हिस्सेदार घाटेमें थे, कौन किसका दोष निकाले? लेन्टके तीन लाख डालर इसमें लगे थे। वह तो इतना नाराज हुआ कि आर्नोल्डके पास गया। आर्नोल्ड अपने गाँवमें चैनसे रहता था। उसने अठारह हजार डालर खर्च करके बत्तीस एकड़ जमीन खरीदी, सुन्दर घर बनवाया। चार हजार डालरके जानवर खरीदे और बची हुई पूंजी घरके तिजोरीमें सुरक्षित रख छोड़ी थी। उसने लेन्टको डेढ़ लाख डालर देकर शान्त किया। तब भी उसके पास साढ़े तीन लाख डालर बचे थे।

चित्रकारका स्वार्थ-त्याग

इंगलेंडमें सृष्टि सौन्दर्यका सुप्रसिद्ध चित्रकार टरनर था। एक बार यह रायल एकाडेमीकी प्रदर्शनीमें चित्र चुननेवाली कमेटीका मुख्य सभासद था। उसके खुदके देश-विख्यात चित्र योग्य स्थानपर टाँगे गये थे। दूसरोंके चित्रोंको यथा स्थान लगानेका काम भी पूरा किया गया था। भीतपर अब एक भी चित्रके लिए स्थान नहीं था। पर इसी समय एक नये चित्रकारका चित्र इसे अच्छा मालूम हुआ, और उसे दीवारपर टाँगनेकी इच्छा हुई। कमेटीके दूसरे सभासदोंने कहा—'चित्र अच्छा है, पर हमारे पास जगह नहीं है। अब कौन-सा चित्र उतारकर इसका चित्र टाँगा जाय।'

टरनरने कहा—'जब सभीको यह चित्र अच्छा मालूम हुआ तो जगहकी तंगीके लिए इस चित्रकारका उत्साह नहीं तोड़ना चाहिए।'

यह कहकर टरनरने फौरन अपना एक चित्र उतार लिया, और उसकी जगह वह चित्र टाँग दिया, जो उत्तमताकी दृष्टिसे टरनरके चित्रके समान नहीं था।

यह देखकर सब टरनरकी तारीफ करने लगे।

—श्री कृष्णगोपाल माथुर

शोक क्यों ?

जो सर्व व्यापक होगा उसमें परिणाम नहीं हो सकता। मिट्टीसे घड़ा इसलिए बनता है कि मिट्टीके टुकड़े हो सकते हैं, और मिट्टीसे बाहर स्थान तथा समय हैं। यदि किसी कमरेमें ठसाठस मिट्टी भर दें तो उस कमरेके भीतर ही घड़ा बन सकेगा ?

अतएव जो सर्वव्यापी है, वह अद्वैत है और अपरिणामी है, उसमें भेदकी प्रतीति विवर्तसे ही होती है। ऐसी अवस्थामें जो अद्वैत अपरिणामी एकरस तत्त्वको अपना स्वरूप जान लेगा, वह शोक किसलिये करेगा ? उसके लिए शोकका कोई निमित्त हो नहीं रहा।

प्रतीति और प्रीति

श्री हरिकिशन दास अग्रवाल

सांसारिक पदार्थोंकी प्रतीति तो होती ही है, और वह होगी भी। क्योंकि ज्ञान होनेसे प्रतीति नहीं मिट जाती, किन्तु उन सबके प्रति बैठी हुई जो मानसिक बन्धनके रूपमें प्रीति है वह अवश्य मिट जाती है, जो कि दुःखका मूल कारण है। ज्ञानीको पदार्थोंके प्रति कोई राग नहीं रह जाता। जहाँ राग नहीं, वहाँ द्वेष भी नहीं रहा करता।

जब हमारे ऊपरसे कोई हवाई-जहाज गुजरता है, तो उसकी हमें प्रतीति तो होती है, पर उससे किसी प्रकारकी प्रीति नहीं होती। किन्तु कहीं उसी समय हमें यह पता चल जाये कि इसे चलानेवाला हमारा लड़का है, तो लड़केके सम्बन्धसे उस जड़ पदार्थ हवाईजहाजसे भी राग हो जायगा, फिर हम उसकी भलाई या बुराईसे सम्बद्ध हो जायेंगे। फिर हम कहेंगे कि यह सुरक्षापूर्वक अपने गन्तव्य स्थानपर निर्विघ्न पहुँच जाय।

अस्पतालमें नर्स, रोगीकी तन-मनसे सेवा करती है। उसको रोगीकी प्रतीति तो हो रही है, किन्तु रोगीके साथ प्रीति नहीं है, इस कारण रोगीमें रोग कम व ज्यादा होनेसे उसको शोक या हर्ष नहीं होता। जिस प्रकार एक अस्पतालकी नर्स अच्छी तरहसे रोगीकी सेवा करती है, सम्भवतः वैसी सेवा घरवाले भी नहीं कर पाते, चूँकि—घरवालोंसे रोगीके साथ प्रीति है, वे उसके राग-द्वेष-शोक और मोहके कारण सुखी-दुखी होते हैं, जब कि नर्सको इन सबसे कुछ भी नहीं। जहाँ मोह नहीं वहाँ शोक नहीं और जहाँ शोक नहीं, वहाँ दुःखका प्रश्न ही नहीं उठता। नर्सको मोह नहीं, इस कारण रोगीके मर जानेपर भी उसे शोक नहीं होता।

राजस्थानमें जो लोग रहते हैं, उन्हें दोपहरके समय सूर्यकी प्रखर रश्मियोंके कारण रेगिस्तानमें जलका दरिया बहनेकी प्रतीति होती हैं। किन्तु उन्हें उस मरु-मरीचिकाके जलके बारेमें ज्ञान होनेके कारण, वे गागर लेकर कभी पानी भरने नहीं दौड़ पड़ते।

राजस्थानमें जहाँ भी कुएँ हैं, वहाँ पानी लगभग तीन सौ फुट गहरा होता है, जहाँसे जल निकालना पर्याप्त श्रमके ऊपर निर्भर करता है,

फिर भी वे कुएँपर तो पानी भरने जाते हैं। किंतु मरु-मरीचिकामें जल होनेकी प्रतीति होते हुए भी वहाँ पानी भरने नहीं जाते।

एक सटोरियेकी तरफसे कमीशन एजेण्ट 'लेई वेंची' करता है, किंतु जब घाटा होता है, तब सटोरिया ही सिरपर हाथ रखकर बैठता है, न कि वह एजेण्ट। हालाँकि सटोरियेकी ओरसे सभी लेना-वेंचना एजेण्ट करता है। उसे भी उस घाटेकी प्रतीति तो होती है, किंतु इसमें प्रीति न होनेके कारण उसे कोई शोक नहीं होता।

एक सर्जन जीवनमें सैंकड़ों रोगियोंके आपरेशन कर डालता है, उसे कोई क्षोभ-मोह नहीं होता। पर जब उसके सामने उसके लड़केके आपरेशनका प्रश्न आ उपस्थित होता है तो वह अन्य सर्जनकी शरण जाता है। क्योंकि मोह होनेके कारण वहाँ उसका मुक्त हाथ नहीं चलता।

अध्यात्म विद्या, व्यक्तिको मोहसे निवृत्त होना ही सिखाती है, व्यक्तिसे निवृत्त होना नहीं। व्यक्ति तो वैसे ही हमारे इर्द-गिर्द बने रहेंगे। उनका कभी अभाव नहीं होगा। किंतु जब हममें मोह नहीं होगा तो हर्ष व शोक भी नहीं होगा। किसीके घरमें शादी होनेवाली होती है तो प्रसन्नता की लहर दौड़ जाती है। महीनों उसकी तैयारी करते रहते हैं। जब घरमें कोई मृत्यु हो जाती है, तो सिरपर हाथ रखकर रोते-पीटते हैं, और वे कहते हैं कि 'हाय

मन-चित्त चोर

प्रकृति में तू रमता है,
जग में तू बसता है,
कण-कण का अधिष्ठाता,
मुरली मनोहर।
मन-चित्त चोर॥

प्रेम मुझको भाता है,
सब कुछ तू लुटाता है,
भव बन्ध से छुड़ाता है,
मुरली मनोहर।
मन-चित्त चोर॥

मीठी मुस्कान प्यारी,
बांकी भौहें दुलारी,
चित्तवन सी दृष्टि न्यारी,
मुरली मनोहर:
मन-चित्त चोर॥

निराकार में है साकार,
निर्गुण में गुणों का आगार,
अणु में अनन्त अपार,
मुरली मनोहर।
मन-चित्त चोर॥

उर में रहे नित बस,
प्रेम में रहे नित कस,
माया में रहे नित फँस,
मुरली मनोहर।
मन-चित्त चोर॥

—बाबूलाल 'श्रीमयंक'

मैं मर गया !' मरता तो है कोई; पर मनुष्य कहता है कि 'मैं मर गया।' यह मरनेवाले व्यक्तिके साथमें मोह होनेके कारण, उस मरनेवालेके साथ अपने आपको भी मर गया-सा समझता है। यही मोहका चमत्कार है। जब मनुष्यके अन्दर मोह-रूपी प्रीति नहीं रह जाती, तो भी परिवार उसी प्रकारसे रहता और प्रतीत होता है किंतु अन्तरमें मोह रूपी प्रीति न होनेके कारण उनके शोकमें मुर्झाता तथा खुशीमें फूलता नहीं।

जैसे एक स्त्रीने अपनी धनाढ्य पड़ोसिनका हार देख अपने पतिसे उसी प्रकारका हार लानेका आग्रह किया। पतिकी आय इस योग्य नहीं थी, कि वह उस जैसे बहुमूल्य हारको खरीद सके, किन्तु स्त्री हठके आगे जब उसका धैर्य टूट गया तो उसने एक नकली हार जो कि असली सरीखा ही था सात रुपयेका खरीदा—लाकर अपनी स्त्रीको दे दिया। और उसे बताया कि इसे पहनकर ज्यादा लोगोंको न दिखाइए, वर्ना लोग संदेह करेंगे कि इन लोगोंने इतना कीमती हार कहाँसे व कैसे खरीदा? इस बातको उनके नौकरने सुन लिया—वह मौका देख, हारको लेकर चम्पत हो गया।

पत्नीने प्रातः उठकर जब देखा कि हार गायब है तो वह हाथ मार-मारकर रोने लगी कि—'हाय मैं तबाह हो गयी।' पर पतिको जब पता लगा तो वह भी बाहरसे तो स्त्रीके साथ सहानुभूतिके लिए दुःख मनता हुआ ही आया पर वह अन्तरसे शोकग्रस्त नहीं हो रहा था। बल्कि वह अन्दर ही अन्दर हँस रहा था। उसे उसको गुम हो जानेकी प्रतीति तो हो रही थी; किन्तु उसकी वास्तविकताका ज्ञान होनेके कारण प्रीति नहीं थी। अतः उसे कोई शोक नहीं हुआ।

प्रतीति शोकका विषय नहीं है, किन्तु उसके अन्दर जो प्रीति (आसक्ति) है, वही शोकका विषय है, जिसका निवारण और बाध अध्यात्म-विद्याकी शिक्षा है। ●

प्रत्येक नये रूपमें

क्या तुम्हें जो कुछ देखने, सुनने, करनेका अभ्यास हो गया है, वही ठीक है? जो नया हो रहा है, वह ठीक नहीं है? यदि ऐसा है तो क्षण-क्षण कुछ न कुछ नया होता रहेगा। तुम्हारा प्रिय परिवर्तित होता रहेगा। ऐसी स्थितिमें कभी सुख-शान्तिके दर्शन नहीं हो सकेंगे। प्रत्येक नये रूपमें अपने प्रियतमको पहचानते चलो। तुम्हारा सुख सदा बना रहेगा। ●
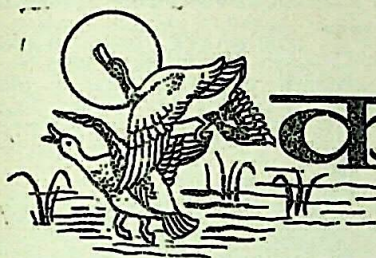
पूर्वकी ओर

शिवनाथ दुबे

राजकुमार उठकर बैठ गया। उस नीरव आम्र-काननमें पक्षिकुल गान करने लगा था। शीत समीर धीरे-धीरे वह रहा था। पूर्वके क्षितिजपर बाल रवि मुस्कराने लगा था।

राजकुमार चकित था, वह भस्म लगाये हुए कर्पूरगौर जटा-जूटधारी पार्वतीवल्लभ आशुतोष शिवकी अनुपम शोभा भूल नहीं पा रहा था। हाँ, काले नागोंकी फूत्कार देखकर वह एक बार अवश्य भयभीत हो गया था। पर भोलेनाथकी अमृत-वर्षिणी स्मितकी स्मृतिसे वह आत्म-विभोर हो चुका था। उसे अपने तन, मन और प्राणका भी ध्यान नहीं था। वह नीलकण्ठके ध्यानमें तल्लीन था प्रकृतिके अत्यन्त आकर्षक एकान्त शान्त वातावरणका उसे ध्यान ही नहीं था।

उत्तर-पूर्वी विशाल भारतके ब्राह्मण-सम्राट्का पुत्र गृहकलहके कारण कहाँ तो मृत्यु-मुखमें प्रवेश करनेके लिए प्रस्तुत हो गया था, वन्य-जन्तुओंकी आत्म-समर्पणकी कामनासे जिस किसी भयानक वनमें चला जा रहा था और नागाओंके दुर्ग-तुल्य घरमें चले जानेमें उसे कोई भय नहीं लग रहा था और कहाँ अब उसके जीवनमें नवीन स्निग्ध प्रकाश छाने लगा।

'राजकुमार उठो! चिन्ता मत करो।' उसके आराध्यके उसे स्वप्नमें दर्शन हुए थे और उनके एक-एक शब्द अब भी ब्राह्मण-राजकुमार कौण्डिन्यके कानोंमें गूंज रहे थे। विपत्ति मनुष्यकी परीक्षा-भूमि है। धीर और कर्मठ पुरुष ही इसमें सफल होते हैं और वे ही महामानव बन जाते हैं। समीपके मन्दिरमें मेरा धनुष और द्रोणका भल्ल है। इन दोनोंको तुम ग्रहण करो। इनसे तुम्हें सदा

और सर्वत्र विजय प्राप्त होगी। तुम पूर्व समुद्रकी यात्रा करो। वहाँ तुम्हें इतने विशाल देशका राज्य प्राप्त होगा, जिसके सम्मुख तुम्हारे पिताका राज्य हेय प्रतीत होगा।'

आँख मलता हुआ राजकुमार उठ बैठा। वह जिस घरमें रात्रिमें सोया था, वह मनुष्य-जातिको एक सामान्य पशुकी भाँति मार डालने-वाले नागाका था। पहाड़ीके ऊपर वृक्षोंकी झुरमुटमें उस घरसे केवल एक ही संकीर्ण मार्ग आने-जानेके लिए था। जीवनसे निराश राजकुमार उन्मत्तकी भाँति विना सोचे-समझे उस घरमें जाकर सो गया था। संयोगकी ही बात थी कि नागा-परिवार वापिस नहीं आया। अन्यथा राजकुमारके प्राण-विसर्जनकी कामना अवश्य पूरी हो गयी होती।

वह अधीर हो उठा। उस संकीर्ण पथसे नीचे उतरकर मन्दिर ढूँढ़ने लगा। शायद स्वप्न सत्य ही हो। और उसकी प्रसन्नताकी सीमा न रही, जब सचमुच उसने एक मन्दिरके दर्शन किये और वहाँ अनुपम धनुष और विचित्र भल्ल भी प्राप्त हुआ। भोलानाथको कृपा करते देर नहीं होती, वह जिसे चाहें क्षणार्द्धमें ही रंकसे राव बना सकते हैं। अनन्त अपरिसीम शक्तिमय, महिमामय और दयामय जो हैं वे। कौंडिन्यका दृढ़ विश्वास हो गया 'स्वप्न शब्दशः सत्य था।'

उसने मन्दिरमें भगवान् शिवके चरणोंमें साष्टांग प्रणाम किया और चल पड़ा पूर्व देशकी समुद्र-यात्राके लिए।

समुद्रकी विशाल लीला लहरियों-को चीरता हुआ कौंडिन्यका जल-यान तीव्र गतिसे चला जा रहा था। उसने प्रवल पराक्रमी भारतीयोंसे घनिष्ठता स्थापित कर ली थी। वे भी उसके साथ थे। उन्हें समुद्र-यात्रामें अत्यन्त सुख मिलता था। जलयानमें वैठे हुए उनमेंसे कुछ विस्तृत महासागरके वक्ष और असीम शून्यको देख-देखकर परस्पर विनोद कर रहे थे। कुछ भोजन और कुछ शयनमें थे। पर कौंडिन्य आशुतोषके ध्यानमें तन्मय था। इतना रूप-लावण्य ऐसी अतुल सौन्दर्यराशि। उसे कल्पना भी नहीं थी। त्रैलोक्याधिपति महादेवके अनुपम सौन्दर्य-सुधामें उसका मन भूल गया था। उसका शरीर निश्चल था और मनकी अतृप्त आँखोंसे वह अपने प्राणप्रिय भोला-नाथको देख रहा था। घण्टा-आध घण्टा नहीं, रात-रात भर, दिन-दिन भर वह यही किया करता था। वह करता भी क्या ? विवश था, शिवके अनूप रूपका नशा छा गया था उस-पर और उसका विशाल जलयान समुद्रकी उत्ताल तरंगोंसे जूझता आगे वढ़ता ही जा रहा था।

वात है ईसाके प्रथम शताब्दीकी।

उस समय भारत पृथ्वीका मुकुटमणि माना जाता था। विश्वमें अग्रणी-भारतीय ही समझे जाते थे। पराधीन भारतमें शासकोंके द्वारा लिखाये गये भारतके इतिहासमें भारतीयोंको कूप-मण्डूक वनानेका पूर्ण प्रयत्न किया गया है, जब कि भारतीयोंके पास सर्वत्र जानेके लिए साधन सुलभ थे और वे उनका सदा उपयोग किया करते थे कौण्डिन्यका जलयान हिन्द-चीनके समुद्रतटके समीप जा पहुँचा।

जलयान तीव्र गतिसे मेकांग नदीकी घाटीमें पहुँचा। वहाँकी प्राकृतिक शोभा अद्वितीय थी। कौंडिन्यने जलयानका लंगर वहीं डाल दिया।

× × ×

समुद्रकी उस घाटीमें जहाँ बालुका फैली हुई थी, कौंडिन्य मूर्च्छित पड़ा था। नारियोंके सामूहिक क्रन्दनसे उसके नेत्र खुले। उसने देखा, निकट ही एक नौका डूब रही थी। कौंडिन्यके शरीरमें पीड़ा थी, वह हाथ भी नहीं हिला सकता था, पर उसने साहससे काम लिया। उठा, उछला और डूबती नौकाके समीप पहुँच गया। उसके हाथमें आया नारीका लम्बा केश। कौंडिन्य उस केशके ही सहारे साहसपूर्वक तैरते हुए उसे तटपर ले आया। नारी मूर्च्छितप्राय थी और थी पूर्ण नग्न। अपना उत्तरीय उसपर डाल-कर कौंडिन्यने मुँह फेर लिया और वहाँसे कुछ दूर खड़ा हो गया।

किन्तु विद्युत्कांति-सरीखी नारी-की काया उसकी दृष्टिमें आ गयी थी और मृणाल-सी वाहोंका स्पर्श हो चुका था। युवक कौंडिन्यका मन चंचल हो उठा था किन्तु उस ब्राह्मणकुमारने 'परदारे मातृवत्'का ही पाठ पढ़ा था। 'किसी युवतीके प्रति मनमें भी विकार आना पाप है',—इस विचारसे वह मन-ही-मन अपने इष्टदेव शशांकशेखरका ध्यान एवं उनके नामका स्मरण करने लगा। वे ही रक्षा कर सकेंगे।

युवतीने नेत्र खोला, उसने दृष्टि घुमायी तो पीछे मुँह किये खड़े ब्राह्मण युवक कौंडिन्यपर टिक गयी। उसने नेत्र बंद किया, फिर खोला। फिर बन्द किया और फिर खोला। उसके मनमें निश्चय हो गया था कि मेरे प्राणरक्षक भी यही हैं।

स्त्री एकटक उधर देखती रही। कौंडिन्यने मुँह फेरा। अबकी बार स्त्रीने कौंडिन्यके भोले और सुन्दर मुखको अच्छी तरह देखा और देखती रही। एक दूसरेकी भाषासे अपरचित दोनोंके प्राणोंका वहाँ मूक आदान-प्रदान हो गया। समुद्रकी वीचियाँ उछल-उछलकर जैसे हँस रही थीं। कौंडिन्य अब भी अपने प्राणाराध्यका स्मरण करता जा रहा था। वह सोच रहा था जो कुछ भी हो रहा

है, उन्हीं मंगलमय करुणामय विश्वेश्वरकी इच्छासे हो रहा है।

× × ×

'तो मेरा प्रतिरोध करनेवाली आप ही थीं।' कौंडिन्यने उस विशाल भवनके बाहरकी वाटिकामें पूछा।

'बिना अनुमति अपने राज्यमें किसीको कैसे प्रवेश करने दिया जाय?' अत्यन्त कोमल कण्ठसे उत्तर मिला। पर आपके बाण और भल्लपर मैं मोहित हो गयी थी। विशाल धनुषसे निकला हुआ एक शर भी व्यर्थ नहीं गया और भल्लके प्रकाशसे आँखें चौंधिया जाती थीं। उसने मेरे वीर सैनिकोंका जिस निष्ठुरतासे रक्तपान किया था, उसे देखकर मैं क्रोधसे काँप जाती थी।'

'आपके विशाल पैने तीरोंकी वर्षासे मैं भी मुग्ध हो गया था।' कौंडिन्यने सच्ची बात कह दी 'यदि भीषण तूफान न आ जाता तो युद्धका आनन्द आ जाता।'

'फिर आप मेरे पास इस प्रकार नहीं बैठ पाते।' तुरन्त उत्तर मिला 'हम दोनोंमें-से किसी एकको तो जगत्से विदा होना ही पड़ता।

'मैं आपको जीवित पकड़नेका ही प्रयत्न करता।'

'पर यह सम्भव नहीं था'— उत्तर मिला 'शरीरमें रक्तकी एक बूँद रहनेपर भी मैं शत्रुके हाथ नहीं आ सकती।'

रोम-रोमसे छलकते सौन्दर्यके साथ वीरताका परिचय पाकर कौंडिन्य पहले ही मन खो चुका था, अब इस वाक्यने उसपर जादूका प्रभाव डाला। वह रीझ गया उस सुकुमारी वीर लावण्यवतीपर। उसके कोमल अरुण हाथको अपने हाथमें लेकर उसने धीरेसे कहा 'तुम्हें पाकर मैं धन्य हो गया।'

वह मौन थी। उसकी मुखाकृतिपर अरुणिमा फैल गयी।

'मेकांगीकी घाटी सर्वाधिक उर्वर है।' अपना परिचय देते हुए उसने बताया 'काम्बोजका वैभव इसीके कारण है। पहले यहाँ चाम जातिके लोग निवास करते थे, फिर मेरे पूर्वज वीरमान प्रदेशसे यहाँ आये और चाम जातिको उत्तरकी ओर भगाकर स्वयं राज्य करने लगे। मैंने खमेर जातिमें जन्म लिया है। इस समय यहाँका शासन मेरे हाथमें है और मैं हूँ अविवाहिता।'

'रमा!' अत्यन्त स्नेहसे कौंडिन्यने कहा 'तुम्हारा 'चीनूमी' या टेढ़ा-मेढ़ा नाम मुझसे तो नहीं लिया जायगा। तुम्हारा नामकरण करनेवाले चीनी महोदय ही तुम्हें इस नामसे पुकारेंगे। तुम्हें अब मैं 'रमा' ही कहा करूँगा और तुम मेरी...।' रमाने अपना मस्तक कौंडिन्यके वक्षपर रख दिया और कौंडिन्यकी अँगुलियाँ उसके केशोंसे उलझ गयीं।

समुद्र-तटपर भीषण संग्रामका परिणाम दो अपरिचित हृदयोंका दृढ़ सम्बन्ध हुआ। कौंडिन्यने अपनी शक्तिसे सम्पूर्ण काम्बोजपर अधिकार कर लिया था और अब वह था काम्बोजनरेश तथा उसकी प्राणाधिका पत्नी थी रमा।

दोनों वीर थे, पराक्रमी थे और श्री-सम्पन्न। दोनोंके प्रयत्नसे खमेर जातिने वस्त्र पहनना सीखा। उनका साम्राज्य उत्तरोत्तर अधिकाधिक प्रसारित होता गया। कौंडिन्यने वहाँ अपने इष्टदेवके नामपर भवपुर नामकी राजधानी बसायी।

साध्वी रमा पतिकी अनुगामिनी थी। उन दोनोंने भारतीय संस्कृतिके प्रचार-प्रसारमें अथक श्रम किया। इन दोनोंके प्रयत्नसे ऐसे सुदृढ़ राज्यकी स्थापना हुई जो बारह सौ वर्षतक शक्ति-सम्पन्न रहा। आगे उनके वंशज द्वारा उत्तरमें अनाम और चम्पातक, दक्षिणमें सुमात्रा और जावातक, और पश्चिममें श्याम और बर्मातक उनकी शक्ति स्थापित हुई और वहाँ भारतीय कला इतनी अधिक विकसित हुई कि कुछ अंशोंमें स्वयं भारत भी उससे पीछे रह गया। काम्बोजका प्रसिद्ध अंगकोरका मन्दिर और वहाँकी कलाके सहस्रों नमूने आज भी इसके साक्षी हैं। ●

प्रेमचन्द्र आनन्दरश्मि मनमणि पिघलावै।
उदय विलय क्षय विना नित्य बढ़ि रस सरसावै।
बानि मधु सरिस कठोर मधुरिमा नेकु न त्यागै।
रहै पूर्णिमा तदपि विक्रमा सी कछु लागै॥

झिलमिल झिलमिल ज्योति हृदयसे भीति भगावै।
अंक कलंक लगाइ प्रगटि गुन, दोष दुरावै।
नव-नव रुचि रस रास प्यास आवास बनावै।
जगसे करि उन्मत्त मोद की गोद बसावै॥

मोहै सोहै दई वहै अनचहे रहै नित।
अन्तर से अद्वैत द्वैत की गन्ध नहीं चित।
मधुर प्रीति रसरीति चाँदनी छटा छई है।
राधा कृष्ण सुभाव नेह की नीति नई है॥

सतिगुर प्रसाद

[भक्तप्रवर श्रीकोकिल साईं]

[१६]

अरिजु असां दी पेहा सुनो महर्बाना।
जीवो तुसी कलँगीवाला सद्हीं जहाना॥
खड़ा है गरीबि श्रीखण्डि दरद दा दिवाना।
वैरिआँ दे वग सानूँ कीता हैं हैराना॥
माँदा न करीवे साईं, मैंगसि मिलाना।
देवो देवो गोबिंदसिंह दाता इहो दाना॥
श्रद्धा सिकिड़ी सीय अमड़ि जी सदां सुवहाना।
जानिकिचन्द्र जानिवि तौं वञां कुलवाना॥

श्रीकोकिल साईं सद्गुरु श्रीगोविन्दसिंहजीके श्रीचरणोंमें निवेदन करते हैं :

हे दयासिन्धु सद्गुरुदेव ! हम दीन-अधीनोंकी यह प्रार्थना सुनें। क्योंकि आप साक्षात् परमात्मा हैं और दुखियोंकी पुकार हमेशा सुनते हैं। क्योंकि 'यह दरवार दीनको आदर यह रीति सदा चली आयी' इसलिए सुननेके वाद ही तो हमें आपका अनुग्रह प्राप्त होगा, इस सम्बन्धमें हमें पूरा भरोसा है कि आप अवश्य सुनेंगे, क्योंकि दीन-दुखियोंके सहयतार्थ ही आपका भूमण्डलपर पदार्पण हुआ है।

प्रभो ! आप ऐसा न समझें कि पुकारना तो इनका नित्य-नियम है। नाथ ! दुखोके सिवाय कोई करुण क्रन्दन नहीं करता। यह संसार भी दुःखोंका गढ़ ही है, कहीं न कहींसे दुःखोंकी आक्रामक चपेट आती ही रहती है। गुरु-कृपा बिना जीवन-यात्राका निर्वाह निर्विघ्न होना कठिन है। गरीबोंकी पुकार सुननेवाले कलंगीधर बाबा ! आप चिरकालतक इस भूमण्डलपर जीते रहें—प्रसन्न रहें और दीन-दुखियोंकी सहायता करते रहें।

शरणागत-वत्सल ! मुझे तो प्राणप्रियतमके दर्दने दीवाना बना

दिया है। अनुरागसे उन्मत्त होकर मैं आपका सेवक गरीब श्रीखण्ड आपके द्वारपर खड़ा होकर पुकार रहा हूँ।

'सो दर तेरा केहा सो घर केहा, जित वह सरब सँभाले।'

'जपुजी साहबमें' गुरु नानकदेवजी ने कहा है—

हे प्रभो! वह आपका कौन-सा द्वार है जहाँ आप बैठकर सब जीवोंकी साज-सँभाल किया करते हैं। वह कौन-सा द्वार या घर है जहाँ बैठकर आपके सेवक आपका स्मरण-चिन्तन करते हैं। सन्त महापुरुषोंसे तो सुना है कि वह द्वार दीनताका ही है।

इसलिए मैं भी आर्त्त-चित्त डबडबायी आँखोंसे आपकी कृपा-बाट देख रही हूँ।

'वैरिआं दे वग सानूँ कीता है हेराना'

एक तो अपने स्वामीके श्रीचरणोंके बिछोहका दुःख, उसपर वैरी विघ्नोंका आक्रमण—ऐसी स्थितिमें बेचारेका क्या हाल होगा? हे नाथ! ईश्वरसे दूर करनेवाले सभी विघ्न वैरी हैं। आप उनसे मेरी रक्षा करें। प्रभु-विमुख जीवोंसे भी हमारी रक्षा करें। हमें नित्य ऐसे सज्जन पुरुषोंका सत्सङ्ग प्राप्त हो कि जिनके संसर्गसे आपके गुणगानकी अभिलाषा उद्दीप्त हो, कथा-श्रवणकी बुभुक्षा जगे, दर्शनकी उत्कण्ठा उल्लसित हो, नाम-जपकी पिपासा उत्तरोत्तर बढ़े।

साईं! प्राणनाथ!! आप करुणाभण्डार हैं। हमारे जीवनमें व्याकुलता न आये। प्रियतमके बिछोहसे व्याकुलता बढ़ती है, कृपाकर उस विरह बाधाको दूर करें। मैंगसि-मिलाना अर्थात् श्री मिथिलेशनन्दिनी मैयाके श्री चरणकमलोंसे गरीबि श्रीखण्ड मिली रहे। श्री गुरुगोविन्दसिंहजी! मुझे 'यही दान दो! यही दान दो!! मिलनका आशीर्वाद दो।'

नित्य-मिलन तो प्राप्त हो ही, साथ ही श्रीसीता अम्बाके चरण-कमलोंमें अनुपम श्रद्धा और अविरल प्रेम उल्लसित होता रहे, क्योंकि श्रद्धा और स्नेहके उच्चतम—प्रगाढ़ होनेपर नित्य मिलनमें अतृप्ति बनी रहेगी।

उस श्रद्धा और स्नेहके साथ-साथ यह सौभाग्य भी प्रदान करें कि 'श्री जानकीचन्द्र-जानिव' भगवान् श्रीरामचन्द्र तथा जानकी मैया पर मैं सदा ही बलिहारि होती रहूँ। युग-युग जय मनाती रहूँ।

सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्टकी सदस्यता एवं नियमावली

इस संस्थाका जन्म सन् १९६१ में पूज्यपाद अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराजकी प्रेरणा एवं उनके आशीर्वादसे हुआ था। हमें प्रसन्नता और गौरव है कि इन आठ वर्षोंकी अवधिमें ट्रस्टने वेदान्त, गीता, भागवत, भक्ति और साधना तथा परिचय आदिके छोटे-बड़े ३४ ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं। इनकी लोकप्रियताके कारण कई ग्रन्थोंके द्वितीय संस्करण भी समाप्तप्राय हो गये हैं। ये सभी ग्रन्थ महाराजश्रीकी ओजस्वी वाणी और लेखनी-प्रसूत हैं। देश भरमें हमारे प्रकाशनोंका प्रचार-प्रसार और स्वागत हुआ और हो रहा है।

हम आपसे अनुरोध करते हैं कि आप अपने सामर्थ्य और औदार्यको लक्ष्यमें रखकर निम्नलिखितमें-से किसी भी प्रकारकी सदस्यता ग्रहणकर संस्थाको अधिक कार्यक्षम बनानेमें सहयोग करें।

सदस्यता-श्रेणी	सदस्यता-शुल्क	
(१) संरक्षक	५०१.००	एक बार
(२) आजीवन	२५१.००	,,
(३) मानद	१०१.००	,,
(४) साधारण	५.००	प्रतिवर्ष
(५) सत्संगी सदस्य	१.००	,,

वार्षिक सदस्यतावधि १ जुलाईसे ३० जून है। सत्संगी सदस्यताकी योजना केवल बम्बईके लिए ही है। इसमें ट्रस्टके तथा महाराजजीके सत्संगसम्बन्धी कार्य-क्रमोंकी सूचना सदस्योंको दी जाया करती है। संरक्षक, आजीवन और मानद सदस्यता आजीवन मानी जायगी। इसका शुल्क केवल एक ही बार देना होगा। साधारण और सत्संगी सदस्यता वार्षिक है। संस्थाकी ओरसे सदस्योंको—

१. सदस्यता ग्रहण करनेकी तिथिसे ट्रस्टके आगामी प्रकाशनोंकी केवल एक-एक प्रतिपर केवल एक बार कमीशनकी छूट दी जायगी—

संरक्षक	प्रत्येक प्रकाशन भेंट स्वरूप
आजीवन	५०% प्रतिशत छूट
मानद	३०% ,, ,,
साधारण	२५%

सदस्यता ग्रहण करनेसे पूर्वके प्रकाशनोंपर कोई भी छूट प्राप्त नहीं होगी।

—ब्र० प्रेमानन्द 'दादा'
सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्ट

क्या साधु कुछ राष्ट्र-सेवा कर सकते हैं ?

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

अध्यक्ष : भारत साधु-समाजका

हरिद्वार—सुभाषघाटपर भारत साधु-समाजके मञ्चसे एक भाषण

२१ अप्रैल '६९

आज जनता राजनीतिक दलबन्दीसे संत्रस्त है। जाति, सम्प्रदाय, प्रान्त, भाषा और इन सबसे बड़ा दलबन्दीका दलदल। लोगोंके सौमनस्य, संगठन और मेल-मिलापको संघर्ष निगल रहा है। कौन, किसको अपने स्वार्थ-साधनका मुहरा बना लेगा, पता नहीं चलता। अविश्वास और वञ्चनाका वातावरण दिनोंदिन और भी विषाक्त होता जा रहा है। जनता राजनीतिक नेतासे डरती है, राजनीतिसे डरती है। पिछली जनवरीमें मैं जबलपुर गया था। पन्द्रह दिन रहा। प्रतिदिन १५-२० सहस्र जनता आती। शोभा-यात्रामें लक्षाधिक। मैंने पूछा—'लोगोंका इतना झुकाव क्यों है ?' लोगोंने कहा—'यहाँ शान्ति मिलती है। राजनीतिक सभाओंमें राग-द्वेष, संघर्ष, विघटन और वैमनस्यकी प्रेरणा मिलती है। कोई भी जान-बूझकर तो अपनेको उद्विग्न नहीं करना चाहता।'

आज विश्वकी परिस्थिति विलक्षण है। मजहब लड़ते हैं—धर्मका मर्मभेदन होता है। भाषाएँ टकराती हैं—ज्ञानका अनादर होता है। प्रान्त छीना-झपटी करते हैं और राष्ट्र छिन्न-भिन्न होता है। पार्टियाँ जीतती हैं और जनता हारती है। परिस्थिति गम्भीर है। धीरताके साथ विचार करना पड़ेगा। अब संकीर्ण-दृष्टिसे जीवन व्यतीत करनेका समय नहीं है। संचार-साधनोंकी वृद्धि और समृद्धिसे आज सम्पूर्ण विश्व एक गृह और परिवारके समान निकट आगया है। महाद्वीपोंकी दूरी मिट गयी है। विज्ञानका चमत्कार क्षण-क्षणमें, कण-कणको बदलकर दिखानेमें समर्थ हो रहा है। अब चारों ओरसे आँख बन्द रखकर अपने घर-घरोंदेमें नहीं रहा जा सकता।

प्राय: सम्पूर्ण विश्व दो गुटोंमें बँट गया है। एक ओरसे साम्यवाद सम्पूर्ण विश्वकी जनताको अपने पक्षमें संगठित करनेके लिए प्रयत्नशील

हैं, तो दूसरी ओर पूँजीवादी प्रक्रिया अपने पञ्जेको मजबूत करती जा रही है। साम्यवादी ईश्वर और धर्मको नहीं मानते। वे धर्मको विष मानते हैं। केवल श्रम और अर्थके आधारपर जनताको एक मञ्चपर लाना चाहते हैं। दर्शन, धर्म और संस्कृतिका आमूल-चूल विनाश करना चाहते हैं। दूसरी ओर धनी वर्ग धन और भोगकी वासनासे आक्रान्त है। जो कुछ उसको मुट्ठीमें है, उसे गरीबोंको देना नहीं चाहता। उनके लिए सामान्य जीवन बितानेकी व्यवस्था भी नहीं करना चाहता। केवल वासनापूर्ति और संग्रहके अभिमानको ही महत्त्व देता है। उनकी ओरसे कुछ मजहबी लोगोंको भी धनकी सहायता मिलती है और उनके द्वारा छल-बल आदि अनेक अनुचित उपायोंके द्वारा एक मजहब-विशेषमें गरीबोंको आकृष्ट किया जा रहा है, उनकी गरीबीका अनुचित लाभ उठाकर। गरीबोंके लिए विद्यालय, चिकित्सालय बनें, उनके रहन-सहनका स्तर ऊँचा हो। वे सुविधा, सुख, समृद्धि और सर्वविधि उन्नतिमें समान अधिकार प्राप्त करें; यह भला ! कौन सहृदय नहीं चाहेगा। परन्तु उनकी गरीबीका दुरुपयोग करके उनके विश्वास, संस्कार और परम्पराओंका नाश करना कहाँतक उचित है ? इसपर विचार करना चाहिए।

इस प्रकार हिन्दू-समाजपर दुहरे संकटकी घनघोर घटा छायी हुई है। एक ओर अनीश्वरवादी नास्तिक, अधर्मी हिन्दू-समाजका अन्त करना चाहते हैं तो दूसरी ओर मजहबी और विदेशी। हिन्दू-समाजको छिन्न-भिन्न करनेका दुहरा षड्यन्त्र चल रहा है।

एक तीसरी बात ध्यान देने योग्य है कि जो लोग विदेश-यात्रा करके आते हैं, वहाँसे भोग-विलासकी वासनासे सम्मोहित होकर लौटते हैं। वे कहते हैं और करते हैं कि भोग-विलास ही सब कुछ है, धर्म और दर्शन तो निःसार हैं। इनकी एक-एक क्रिया हीन-भावनाकी सूचक होती है। वे भारतीय संस्कृति और जनताको हीन समझते हैं और बात-बातमें भारतीयताको कोसते हैं। 'हिन्दुस्तानी टाइम', 'हिन्दुस्तानी आदमी' सब गलत हैं। ऐसे लोग जनताके चित्तको विषाक्त कर रहे हैं। अपनेको हीन समझनेवाला पुरुष अपनी हीनतासे अभिभूत हो जाता है और अपने उत्साह और आदर्शसे च्युत हो जाता है।

जिन्हें कोई पद या अधिकार मिल गया है, वे अपनी कुर्सीपर जमकर बैठ गये हैं। उनका राष्ट्रकी उन्नति और जनताकी प्रगतिसे कोई सम्बन्ध नहीं है। वे धर्म, ईश्वर, संस्कृतिको तुच्छ समझते हैं। उनका कोई

सिद्धान्त नहीं है। वे वैयक्तिक अथवा दलीय स्वार्थसे अन्धे होकर राष्ट्रके हितसे विमुख हो गये हैं। उनकी ओर देखनेपर लगता है कि राष्ट्रका भविष्य अन्धकारमय है।

हमलोग किसी पार्टीके नहीं हैं—निष्पक्ष हैं। हम न साम्यवादी हैं; न पूँजीवादी। किसीके स्वार्थमें हमारा स्वार्थ निहित नहीं है। ब्रह्मवेलामें उठकर शुद्ध हृदयसे ध्यान करते हैं और विचार करते हैं कि हमारा राष्ट्र किस दिशामें जा रहा है? हमारी संस्कृतिका भविष्य क्या है? कहना न होगा कि अपने राष्ट्रकी मति, गति और रतिपर विचार करके हम दुखी हैं। सम्पूर्ण विश्वको आध्यात्मिक एवं चारित्रिक शिक्षा देनेवाला यह धर्म-प्राण, पवित्र देश आज किस-किस संकटापन्न दशामें पड़ गया है। यह अपने मार्गसे भटक रहा है। इस समय इसे मार्ग-निर्देशकी जितनी अपेक्षा है, सम्भवतः अतीतमें ऐसी कभी न रही हो।

आप जानते हैं हिन्दू-समाजकी धार्मिक दृष्टि अत्यन्त उदार रही है। मैं दावेके साथ कह सकता हूँ कि अपनी-अपनी उदारताके दावे करनेवाले लोग ठण्ढे हृदयसे इस श्लोकके अर्थपर विचार करें—इसकी जोड़का दूसरा वचन और कहीं नहीं है—

यं पृथग्धर्मचरणाः पृथग्धर्मफलैषिणः।
पृथग्धर्मैः समर्चन्ति तस्मै धर्मात्मने नमः॥

सब अपने धर्माचरणमें स्वतन्त्र हैं। सब अपने धर्मका फल प्राप्त करनेमें स्वतन्त्र हैं। सब अपने अलग-अलग धर्मके द्वारा एक ही ईश्वरकी आराधना करते हैं। अपने-अपने कर्तव्य कर्ममें ईश्वर-दृष्टिका अवतरण ही धर्म है। सबका धर्म एक है। धर्मके सम्बन्धमें इससे बड़ी उदारता क्या हो सकती है!

हिन्दू-समाजने धर्मकी जो रूपरेखा स्वीकार की है, वह किसी एक आचार्यके द्वारा प्रवर्तित नहीं है। वह किसी एक ऐतिहासिक कालकी संस्कृति नहीं है। वह किसी भौगोलिक सीमामें आबद्ध नहीं है। वह किसी एक वर्ग, जाति, सम्प्रदाय या पार्टीके लिए नहीं है। हम सम्पूर्ण विश्वके लिए एक धर्म स्वीकार करते हैं। गीताके इस श्लोकपर ध्यान दें—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

मानव अधिकारी है। अपना कर्म ही आराधना है। सम्पूर्ण विश्वका मूल मसाला ही, जो कि चेतन है, आराध्य देवता है। ऐसे धर्ममें भेद-भावके लिए स्थान कहाँ? मित्र अथवा सूर्यकी दृष्टि सम्पूर्ण प्राणियोंको देखो। जो संसारके किसी प्राणीका तिरस्कार करता है, उसपर ईश्वर कभी सन्तुष्ट नहीं हो सकता। अभिमानी, भेददर्शी, द्वेषी और भूत-द्रोहीको कभी शान्ति नहीं मिल सकती। सब प्राणी ही ईश्वरके मन्दिर हैं। दान, सम्मान, मैत्री और आत्मदृष्टिसे सबको देखना चाहिए। ये हैं हमारे धर्मके उदार उद्गार, जिन्हें आप भागवतादि ग्रन्थोंमें अनायास ही प्राप्त कर सकते हैं। यह एकत्ववादी, अद्वयवादी, सर्वात्मवादी धर्म है।

आप जानते हैं भगवान् श्री आदि शंकराचार्यके जीवनकी वह घटना। जब वे काशीमें गंगास्नानके लिए पधार रहे थे। सामने कुत्तों सहित चाण्डाल खड़ा है। आचार्यने कहा—'दूरं गच्छ'—दूर हट जाओ। चाण्डालने कहा—'संन्यासि-शिरोमणि! ज्ञानीजी महाराज! आप देहको दूर हटाना चाहते हैं या आत्माको? क्या पाञ्चभौतिक अन्नमय देह पृथक्-पृथक् हैं अथवा साक्षी चेतन आत्मा पृथक्-पृथक् हैं? आप स्पष्ट बताइये—वेषका आदर है कि ज्ञानका? कोई 'दण्ड-मण्डित-कर' अथवा 'वृत कुण्ड' होनेसे ही श्रेष्ठ हो जाता है? आचार्यने चाण्डालके वचनकी गम्भीरता और तात्त्विकताको धारण किया। चाण्डालने अन्तमें कहा—'तपोधन! मैंने तुम्हारी निष्ठामें जो दोष था, दूर कर दिया।' शंकर दिग्विजयकी इस कथाका मूल शंकराचार्य द्वारा रचित 'मनीषापंचक'में विद्यमान है। उन्होंने स्पष्ट गाया है कि जिसको ब्रह्मात्मैक्य-बोध प्राप्त हो गया है, वह चाण्डाल हो या ब्राह्मण, मेरा गुरु है। हिन्दू-समाजका यह सिद्धान्त करामलकवत् प्रत्यक्ष है कि जाति और वेषकी अपेक्षा ज्ञानका आदर सर्वोपरि है।

कहनेका अभिप्राय यह कि हमारे आदि आचार्योंके जीवनमें ऐसा ज्ञान है, जिससे जगत् अभिन्न है। इतनी निरभिमानता है कि वे चाण्डालके वचनपर भी नत-मस्तक हो जाते हैं। वे किसीको हीन, घृणार्ह, द्वेष्य अथवा ईर्ष्याका पात्र नहीं समझते। हमारे महात्मा आपके हृदयमें शान्ति, श्रद्धा आदि सद्गुणोंका आधान करते हैं। सौमनस्यको जगाते हैं। सौशिल्यकी प्रतिष्ठा करते हैं। वे अन्तर्ज्योतिके द्रष्टा हैं। समतामें उनकी निष्ठा है।

आपने सुना होगा—श्री रामानुज-सम्प्रदायके मूलभूत आचार्योंमें सभी जातिके महापुरुष रहे हैं। गुरुदेवने मन्त्र-दीक्षा देकर श्री रामानुजाचार्यसे कहा—'यह मन्त्र किसी औरको मत बताना। यह परम कल्याणकारी सर्वोत्तम मन्त्र है।' वे छतपर चढ़ गये। ऊँचे स्वरसे मन्त्रोच्चारण करने लगे। गुरुदेवने पूछा—'यह क्या?' आचार्यने कहा—'गुरुदेव! सुननेवाले प्राणियोंका कल्याण हो, मैं अकेले नरकमें चला जाऊँगा।' एक आचार-प्रधान आचार्यकी यह उदारता विश्वमें सदा स्मरणीय रहेगी।

किसीने महाप्रभु श्री चैतन्य देवसे यह प्रश्न किया—'आप कौन हैं?' उन्होंने स्पष्ट कहा—'मैं वर्णाश्रमका अभिमानी नहीं हूँ। मैं प्रभुका एक छोटा-सा सेवक हूँ।' आपको ज्ञात होगा कि महाप्रभुके सम्प्रदायमें सभी प्रकारके लोगोंका समावेश है। पापी और म्लेच्छ भी उनके अनुयायी हुए हैं। वस्तुतः भक्ति-सम्प्रदायोंने अत्यन्त उदारताके साथ प्राणियोंको कल्याणकी दीक्षा दी है। इन्होंने पशु-पक्षियोंतकको भी वैष्णव बनाया है। सिद्धोंने भैंसेको भी क्या वेदोच्चारणके योग्य नहीं बना दिया? सच्छास्त्रोंमें जाति, वर्ग, सम्प्रदाय-निरपेक्ष सर्वलोक-कल्याणकारी धर्मका ही निरूपण हुआ है।

हम धर्मके साथ कोई विशेषण या उपपद नहीं जोड़ते। धर्ममें भौगोलिक सीमा नहीं होती; जैसे यूरोपीय-धर्म, एशियाई-धर्म। ऐतिहासिक सीमा भी नहीं होती; जैसे आदिकालीन, मध्यकालीन। आचार्य, सम्प्रदाय अथवा जातिके कारण भी धर्ममें भेद नहीं होता। प्राचीन शास्त्रोंमें कहीं भी 'आर्य-धर्म', 'अनार्य-धर्म'—इस प्रकारके शब्द नहीं मिलते। वेद एवं तदनुवर्ती प्राचीन ग्रन्थोंमें 'हिन्दू' शब्दका प्रयोग भी नहीं मिलता। वेदका कहना है—**'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा'**—सम्पूर्ण जगत्का आधार स्तम्भ है धर्म। मीमांसा, वैशेषिक आदि दर्शन-ग्रन्थ बिना किसी परिच्छेदकके ही 'धर्म' शब्दका प्रयोग करते हैं। लोक, परलोक और परमार्थकी उपलब्धिके लिए धर्म ही साधन है। कर्ममें सार्वजनिक हितकी, समष्टिकी अथवा सर्वान्तर्यामी ईश्वरकी दृष्टि ही धर्म है। हमारे धर्ममें प्रान्तीयता, जातीयता, साम्प्रदायिकता आदिके कारण होनेवाले वैमनस्य, द्वेष अथवा घृणाके लिए किञ्चित् भी अवकाश नहीं है। यह दोष दुर्गुणोंसे परित्राणके लिए सर्वोपरि कल्याणकारी रामबाण साधन है।

आज सम्पूर्ण विश्वमें जो उपद्रव, उपप्लवके बादल छाये हुए हैं, उसका कारण है—शिक्षागत दोष। सम्पूर्ण विश्वमें आज यह शिक्षा दी

जा रही है कि सृष्टिके मूलमें कोई चेतन नहीं है। जड़ताका विकास और उससे उत्पन्न प्रकाश ही विश्व-व्यवस्थाका निर्वाह करनेमें क्षम है। समग्र विज्ञान ऐसी ही व्याख्या करनेमें संलग्न है। इस प्रकारकी शिक्षा हमारे होनहार विद्यार्थियोंकी बुद्धिको दिग्भ्रान्त कर रही है। आज देश-विदेश और प्रदेश-प्रदेशमें विद्यार्थियोंके अन्तर्देशमें विद्रोह प्रवेश कर रहा है। इण्डोनेशियामें राज्य-विप्लव हो गया। पाकिस्तानमें सैनिक-शासन हो गया। फ्रान्स डगमगा रहा है। यदि विद्यार्थियोंको उचित शिक्षण नहीं दिया गया, उनके हृदयको आस्था-शून्य कर दिया गया तो क्या यह सम्भावना की जा सकती है कि वे विश्वमानवता अथवा राष्ट्रीयताके प्रति उचित दृष्टि-कोण रख सकेंगे? अतः हमारी शिक्षामें ईश्वर, धर्म, नैतिकता एवं सदाचारका समावेश होना ही चाहिए। हृदयकी पवित्रताके लिए, अन्तः-करणकी शुद्धिके लिए, जिसके आधारपर ही सारी व्यवहार-शुद्धि निर्भर है, नितान्त आवश्यक है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इस दिशामें साधुगण वहुत महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकते हैं।

एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि आज की परिस्थितिमें धनी और गरीबका अन्तर वढ़ रहा है। एक ओर पूँजी इकट्ठी हो रही है, दूसरी ओर खानेके लिए दानेके भी लाले पड़ रहे हैं। यदि गरीबोंके वच्चोंको बीमारीमें दवा नहीं मिलेगी, पहननेको कपड़ा नहीं मिलेगा, रहनेके लिए मकानकी व्यवस्था नहीं होगी, उनको शिक्षण और लौकिक उन्नति-प्रगतिकी सुविधा समान-रूपसे नहीं मिलेगी तो केवल उन्हें भावनाके वलपर धर्मात्मा वनाये रखनेमें सफलता नहीं मिल सकती। हमारे साधुओंका यह काम है और इस दिशामें उनके लिए अच्छा अवसर है कि वे धनियों और गरीबोंके बीचमें आवें। धनको हस्तान्तरित करनेमें सहयोग दें। गरीबोंके लिए विद्यालय, चिकित्सालय, रोजगार और लौकिक उन्नतिके अवसर उपस्थित करें। राजनीतिक नेता उन्हें वहका कर गलत रास्तेपर न ले जायँ। ज्ञानी पुरुषको अदृष्टकी प्राप्तिके लिए वर्णाश्रम-धर्मके पालनकी आवश्यकता नहीं है। वह तो जिज्ञासा और ज्ञानकी उत्पत्तिके लिए है। शम-दमादि ज्ञानके निकट सहयोगी हैं। लौकिक कर्ममें ज्ञानीको केवल हितका अन्वय और अहितके व्यतिरेकका विचार करके ही अनिषिद्ध कर्म करना चाहिए। ज्ञानी पुरुष राज्य सेनापतित्व, प्रशासन आदिके कार्य भी कर सकता है। यह शास्त्रका निर्णय है। साधुओंको इस ओर ध्यान देना चाहिए।

जो समझते हैं कि हमारे साधु निकम्मे हैं उन्हें साधुओंके बारेमें जानकारी नहीं है। साधुओंके द्वारा अनेक विद्यालय, औषधालय, स्कूल और कॉलेज चलाये जा रहे हैं। उनके द्वारा बाँध, सड़क आदिके निर्माण-कार्य भी किये जा रहे हैं। भारत साधु-समाज इन सबकी एक सूची तैयार करना चाहता है, जिससे वह जनताके सामने रखा जा सके।

साधु अपने-अपने सम्प्रदायके अनुसार अपने मन्त्रका जप करें। अपने इष्टका ध्यान करें, अपनी मर्यादाका पालन करें। भारत साधु-समाजका गठन धार्मिक सम्प्रदायके रूपमें नहीं, समाज-सेवा-संस्थानके रूपमें है। समाजके मञ्चपर संन्यासी, उदासी, वैष्णव, जैन, बौद्ध, सिक्ख और आर्य-समाजी सभी इकट्ठे हैं। यह मञ्च सब सम्प्रदायके साधुओंके लिए है, चाहे उनकी मान्यता कुछ भी क्यों न हो।

हिंदू-समाजमें मूर्ति-पूजक सनातनी और मूर्ति-पूजा-विरोधी आर्य-समाजी दोनों ही हैं। यह शास्त्रार्थका मञ्च नहीं, सेवाका मञ्च है। महात्मा बुद्ध, महावीर, आचार्य शंकर आदि सभी हिन्दू हैं। गुरुनानक, स्वामी दयानन्द भी हिन्दू ही हैं। हिन्दू-समाजके सम्बन्धमें एक व्यापक दृष्टिकोण होना चाहिए। चोटीवाले और चोटीरहित, यज्ञोपवीती और अयज्ञोपवीती सभी हिन्दू हैं। वैदिक, अवैदिक, आस्तिक, नास्तिक सबका हिन्दू-समाजमें सन्निवेश है। संस्कृत, असंस्कृत दोनों हिन्दू हैं। मजहब आचार्य, संस्कार और पुस्तककी प्रधानतासे होते हैं। परन्तु इनको माननेवाले और न माननेवाले दोनों ही प्रकारके हिन्दू होते हैं। हिन्दू-समाजमें प्राकृत पृथ्वी, जल, अग्नि, वृक्ष आदिकी भी पूजा होती है और संस्कृत-मूर्तियोंकी भी। निराकारका ध्यान कर सकते हैं, निर्गुणका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इतने व्यापक दृष्टिकोणवाले समाजमें किसी प्रकारकी संकीर्णता केवल अज्ञानमूलक ही हो सकती है। संगठन शक्ति है, विघटन निर्बलता। जो केवल हमारी तरह रहें, हमारे ढंगसे सोचें, वही हिन्दू हैं—ऐसा कहनेका अधिकार किसीको नहीं है। हिन्दू-समाज अत्यन्त उदीर्ण और विस्तीर्ण है। उसमें सबका सन्निवेश है। जो कोई मनुष्य सच्चे हृदयसे अपनेको हिन्दू मानता हो, वह अपने ढंगसे हिन्दू-समाजमें रह सकता है, उसको रोकनेका अधिकार न किसी आचार्यको है, न सरकारको। यह याद रखना चाहिए कि 'हिन्दू' जाति या सम्प्रदाय नहीं, समाज है। जिस समाजकी मूलभित्ति अद्वैत-सिद्धान्त हो, उसमें भेद-भावका क्या महत्त्व हो सकता है! हिन्दू-समाज और भारत साधु-

समाज दोनों ही सामाजिक दृष्टिकोण रखते हैं। इसलिए साधु-समाज यह प्रयत्न करेगा कि सबको समान सुविधा मिले, सबकी प्रगति हो। भारत साधु-समाज अपनी तपःपूत प्रज्ञा और शक्तिका उपयोग विश्वकी शान्ति और एकता बढ़ानेमें करेगा।

हम जानते हैं कि विश्वके लोग भारतवर्षको एक पिछड़ा देश मानते हैं। ठीक है—हम धन, सम्पत्ति और भोग-विलासमें उनसे पिछड़े हैं, परन्तु ज्ञान, उदारता, आध्यात्मिकता, समदर्शिता, हृदयकी पवित्रता और अभेद-भावमें किसीसे पिछड़े हुए नहीं हैं। इस दृष्टिकोणसे तो हम सबसे आगे हैं। आज हम इस विषयमें सम्पूर्ण विश्वको पथप्रदर्शन दे सकते हैं। परन्तु इतना ही नहीं, आज प्रज्ञावान और निष्काम साधुओंका यह काम है कि वे भटकी हुई राजनीतिको भी सुमार्गपर लावें और जनताको तथा जननायकोंको लौकिक उन्नतिके लिए भी सही मार्ग बतावें; जिससे जनता कुपथमें न भटके। प्रज्ञावान, निष्पक्ष एवं शुद्ध हृदय साधुओंके सिवाय यह काम और कौन कर सकता है ?

हमारा विश्वास है कि केवल भारतवर्षमें ही नहीं, सम्पूर्ण विश्वमें मानव-समाजके लिए आज साधुकी जितनी आवश्यकता है उतनी पहले कभी नहीं थी। आज साधु गाँव-गाँवमें, जंगल-जंगलमें, जनपद और नगरमें, देश और विदेशमें सर्वत्र फैल जायँ। ईश्वर और धर्मकी सच्ची शिक्षा, पवित्रता, समानता, मेल-मिलाप और निर्भयताकी सच्ची शिक्षा सबको दें। दुखीको सुख दें, अज्ञानीको ज्ञान दें और भयभीतको अभय बनावें। साधुओंके संगठन, हिन्दुओंकी एकता, प्रशासनको शुद्ध करने, मानवताको जगाने, राष्ट्रकी प्रतिष्ठा बढ़ाने और सत्यका साक्षात्कार करानेके लिए आज विश्वमें भारत साधु-समाजकी बहुत बड़ी आवश्यकता है। साधुओंको गृहस्थोंका सहयोग लेनेमें हिचकिचाना नहीं चाहिए। गृहस्थाश्रम साधुकी जन्मभूमि है। साधुकी सम्पूर्ण शक्ति गृहस्थोंमें ही निहित है। साधु प्रज्ञाशक्ति है और गृहस्थ प्राणशक्ति। दोनों मिलकर काम करेंगे तो मार्ग सुगम और प्रगति सुलभ हो जायगी। प्रज्ञा और प्राण दोनोंकी सम्मिलित शक्ति सर्वोपरि है। इसलिए साधु और गृहस्थ दोनों मिलकर यह काम करें—सफलता अवश्य मिलेगी। इसीमें मानव-समाजका, राष्ट्रका, हिन्दुत्वका, धर्मका उत्थान है। यही विश्वका मंगल और कल्याण है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात्॥

CHINTAMANI

PUBLISHED BY

Satsahitya Prakashan Trust

Vipul

28/16 Ridge Road

BOMBAY—6 (W. B.)

Historical Back Ground OF Education In India

Km. Geeta Devi
Lacturer, Allahbed University.

The day-to-day life of topsyturvydum has surpassed the machine age and is now attributed to the name of sputanik age. India is now a free country and the vaxing problems of independant land most naturally looks forward for the greater mind well formed by educational training. It is an interesting and important topic to deal with because educational insitutions generally mirror the ideals of a nation and the culture of the time. And hence it becomes necessary to be acquainted with the educational system of India which had produced the politician like Chanakya, warrior like Samudra gupta and philosophers like Buddha and As'oka. The great productive minds mastered almost all the branches of education such as—astronomy, astrology, grammar, literature, prosody, philosophy and science etc. The modern term Education is derived from the Latin word "Educatum" which means "the act of teaching or training." Like modern educationists ancient Indians also have used the term education in the two sense—

1. In It's wider sense education was self culture and a life long process—"यावज्जीवमधीते विप्र:"

2. In It's narrower sense It is used as the Instruction and training which a youth received during his student life.

The most important factor to keep in the mind is that in India education divorced from religion was poison to the people. From earliest period of their history the Hindus have been accustomed to associate education, like all the other departments of their social life with religion. From the vedic period the central conception of education has been that it is a source of Illumination enablyig us to correct understanding in the various spheres of practical life. Knowledge obtained

through education has been attributed as the third eye of man, which gives him insight and teaches how to act—

"ज्ञानं तृतीयं मनुजस्य नेत्रं समस्ततत्त्वार्थविलोकदक्षम् ।
तेजोऽनपेक्षं विगतान्तरायं प्रवृत्तिमत्सर्वजगत्त्रयेपि ॥"

(Subhasit Ratna Sandoha)

Mahabharat also asserts that nothing can give such an unfailing insight as education—

नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तपः ।

More over it leads to our salvation in the spiritual sphere "सा विद्या या विमुक्तये"

In the mundane sphere it leads to allround progress and prosperity. The illumination acheived by education shatters illusion, removes difficulties and enables to realise the true value of life. A person who does not possess the light of education may be really described as blind.

The search of Educational Ideals has been as ancient quest. The Brahmanic education was dominated by religious and moral aims. The formal and regular intrcoduction to education was made by the ceremony of upanayan. According to Apastamba the upanayan of a Brahmana was performed in the season of spring, of Kshatriya in summer and that of Vaisya in Autumn. They lived under the supervision of their teachers after upanayan. This upanayan ceremony was performed at the age of eight for a Brahmana, at eleven for Kshatriya and at twelve for vaisya. But this age differed when the upanayan was performed with reference to a harticular aim as stated by गौतम. After upanayan the student was to leave the home of his parents and reside with his teacher. Since then he was called "अन्तेवासी" Or "आचार्यकुलवासी" and the very tenor of life was changed for the pupil. His upper and lower garment became now "Ajin" (Skin of a certain animal and Vasa (वास). He was to put on "MEKHLA" (girdle of Munja grass) and a Danda. The sacrament of "यज्ञोपवीत" was performed. This was regarded as spiritual birth as the function of the teacher was to lead from the darkness of ignorance to the light of

Knowledge. Hence It was natural for the people to feel highly greatful to his teacher and highest possible erverence for him, even more than parents. The relation between the teacher and taught was a very Cordial one. The teacher was responsible for the maintainance of the student, he was to serve him in his illness. So in response the student had to attend his teacher in morning and evening. To serve the teacher was the first duty. Whatever the pupil got in begging it was to be offered to the teacher first. The student was restrained to lead the luxurious life and to use fragrance. The celibacy was the main object of the student life. The Curriculum was set in such a way which befitted the student in his later life. Almost all the subjects were taught such as—Veda, Vedanga, Itihas, Purana, Arithmatic, Rhetoric, Prosody, Kavaya, Chachanda, Nirukta, Grammar, Astronomy, Astrology, Ayurveda, Dhanurveda, Nyaya, Mimmnsa and Arthashastra, Kamshastra etc. Nusic, dancing and various types of instruments were also taught, specially to womens. Womens were equally eligible to receive the education. As It was held—

"साहित्य-संगीत-कलाविहीनः साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः"

And thus education in art and literature imbred a man with self Confidence and a winning personality. The teacher imparted Education as assideously to a brilliant as to a dull student, one shines forth in the world of scholars and the others not. This we learn from Utrar Ramcharita of Sandhya-pannandin, According to Aurobindo. It is most peculiar that the majority of the teachers of Philosophy in ancient India lived, thought out and taught their spiritual theories in Sylvan Solitudes. Though the sudras were rigorously exclu-ded from the vedic education but the caste system did not influence the education imparted in Buddhist Centres of learning. All the education was imparted orally in such a way which helped in developing the character as well as personality. In Contast to the modern institutions the sim-plicity in life and the formation habit was all that insisted upon. In the hoary past there was no lack of descipline. Self

TWELVE RULES FOR HAPPINESS

(Natural Religious Press)

1. Live a simple life. Be temperate in your habits. Avoid self-seeking and selfishness. Make simplicity the keynote of your daily plans. Simple things are best.
2. Spend less than you earn. This may be difficult but it pays big dividends. Keep out of debt. Cultivate frugality, prudence, and self denial. Avoid extravagance.
3. Think constructively. Train yourself to think clearly and accurately. Store your mind with useful thoughts. Stand porter at the door of your mind.
4. Cultivate a yielding disposition. Resist the common tendency to want things your own way. Try to see the other person's point of view.

---

descipline was developed by the formation of proper habit during the student period. To provide food to a begging student was the duty of a householder and thus the Co-operation of society was admirable, The ancient education emphasised the social duties and promoted social happiness. In the woods of Altaker "no Nation Can be called educated which can not preserne and expand its cultural heritage. Our education enabled us to do this for several centuries."

The end of the student life was marked by the ceremony Called 'समावर्तन' (Sama vartan) The Broad and Humanitarian outlook which students developed in the course of their studies is manifested from the following verse which a graduate at the time of Samavartan—"Make me popular with the Gods make me popular with the Brahmana, make me popular with the Vaisyas and the Sudras; Make me popular with the kings. Svaha."

5. Be grateful. Begin the day with gratitude for your opportunities and blessings. Be glad for the privilege of life and work. Rule your moods. Cultivate a mental attitude of peace and good will.
6. Give generously. There is no greater joy in life than to render happiness to others by means of intelligent giving.
7. Work with right motives. The highest purpose of your life should be to grow in spiritual grace and power.
8. Be interested in others. Direct your mind from self-centredness. In the degree that you give, serve and help will you experience the by product of happiness.
9. Live in a daylight compartment. This means living one day at a time. Concentrate on your immediate task. Make the most of today for it is all you have.
10. Have a hobby. Nature study, walking, gardening, music, golfing, carpentry, stamp collecting, sketching, voice culture, foreign language, books, photography, social service, public speaking, travel, authorship are samples,
11. Cultivate an avocation to which you can turn for diversion and relaxation.
12. Keep close with God. True and enduring happiness depends on close alliance with him. It is your privilege to share his thoughts for your spiritual nourishment, and to have a constant assurance of Divine protection and guidance.

सत्साहित्य पढ़िये

१. माण्डूक्य-प्रवचन	६.००
२. गोपीगीत	३.५०
३. श्रीमद्भागवत-रहस्य	२.५०
४. भक्ति-सर्वस्व	५.००
५. भगवान्के पाँच अवतार	२.००
६. ईशावास्य-प्रवचन	१.२५
७. सांख्ययोग	५.००
८. भक्तियोग	४.५०
९. पुरुषोत्तमयोग	२.५०
१०. मुण्डकसुधा	२.५०
११. माण्डूक्यकारिकाप्रवचन [वैतथ्य-प्रकरण]	५.००
१२. भागवत-विचार-दोहन	१.००
१३. नारद-भक्ति-दर्शन	३.५०
१४. महाराजश्रीका एक परिचय	०.५०
१५. ब्रह्मज्ञान और उसकी साधना	६.५०
१६-१७. आनन्द-वाणी भाग १-२	०.५० प्रति
१८-२५. आनन्दवाणी भाग ३-१०	१.०० प्रति
२६. महाराज श्रीका एक परिचय [सिन्धी]	०.२५
२७. मोहन नी मोहनी [गुजराती]	०.५०
२८. चरित्र-निर्माण आणि ब्रह्मज्ञान [मराठी]	१.००
२९. श्रीमद्भागवत-रहस्य [सिन्धी]	२.००
३०. साधना और ब्रह्मानुभूति	३.५०
३१. गोपियोंके पाँच प्रेमगीत	०.२०
३२. श्री उड़ियाबाबाजी और मोकलपुरके बाबा	०.२०
३३. ज्ञान-निर्झर (श्री डोंगरेजी महाराज)	०.२५

'चिन्तामणि' पत्रिकाका वार्षिक शुल्क चार रुपये मात्र है।

पिछले वर्षोंके अंक सजिल्द फाइलोंके रूपमें उपलब्ध हैं।

प्रथम वर्ष	सन् १९६६-६७	मूल्य ६.००
द्वितीय वर्ष	,, ६७-६८	,, ६.००

सत्साहित्य-प्रकाशन-ट्रस्ट

'विपुल' २८/१६ रिजरोड, मलाबार हिल, बम्बई-६

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥

मैं आप लोगोंमें सहृदयता, मानसिक पवित्रता और राग-द्वेषराहित्यकी प्रतिष्ठा करता हूँ । जैसे अवध्य गाय अपने छोटे-से बछड़ेसे स्नेह करती है, वैसे ही आप सब परस्पर एक दूसरेसे प्रेमपूर्ण व्यवहार करें ।

"ॐ भूरसि भूमिरस्यदितिरसि
विश्वधाया विश्वस्य भुवनस्य धर्त्री।
पृथिवीं यच्छ पृथिवीं दृंह पृथिवीं मा हिंसीः ॥"

—यजुर्वेद २२।२२

"हे बड़ी माँ! तुम सम्पूर्ण सुखोंकी दाता हो। तुम्हारा स्वरूप विशाल है। तुम स्वयं देवता हो और देवताओंकी माता हो। तुम सम्पूर्ण विश्वको अपने उदरमें धारण करती हो और उसका भरण-पोषण करती हो। सब प्राणी तुम्हारी गोदमें रहकर तुम्हारा ही दूध पीते हैं। तुम अपनी विशालताको और बढ़ाओ, अपनेको और दृढ करो और अपने-आपको कभी क्षीण मत करो।"

CHINTAMANI

॥ श्रीहरिः ॥

आ ब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्, दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम् । निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु, फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् । —यजुर्वेदः २२।२२

"हे परमेश्वर ! हमारे राष्ट्रमें सर्वत्र ब्रह्मतेज-सम्पन्न ब्राह्मण जन्म लें : अस्त्र-शस्त्र-विद्यामें निपुण, शत्रुको भलीभाँति पीड़ित करनेवाले महारथी क्षत्रिय उत्पन्न हों । इस यजमानकी गौएँ दूध देनेवाली हों, बैल भार वहन करनेवाले और अश्व शीघ्रगामी हों । स्त्री सर्वगुण-सम्पन्न तथा रथमें बैठनेवाले पुरुष विजयशील हों । हमारे घरमें शूर-वीर युवा पुत्र हो । मेघ हमारी इच्छानुसार वर्षा करें । ओषधियाँ परिपक्व एवं फलवती हों । हमें योग्य अर्थात् अलब्धका लाभ और क्षेम अर्थात् प्राप्तका संरक्षण प्राप्त हो ।"

रजि० सं० एल० ६९९

G
A

...नईके लिए विश्वम्भरनाथ द्विवेदी द्वारा सम्पादित